नवेदन

प्रसादजी की कला का यह द्वितीय संस्करण कुछ विलम्ब के साथ—जो किसी अंश में अनिवार्य सा हो गया था—निकल रहा है। प्रकाशन में देरी होते हुए भी पाठकों ने इसकी माँग जारी रक्खी इसके लिए हम उनके अनुगृहीत हैं।

प्रसादजी पर चार या पाँच आलोचनात्मक पुस्तकें निकल चुकी हैं किन्तु हिन्दी साहित्य में उनके सांस्कृतिक-महत्त्व एवं उनकी प्रतिभा के बहुमुखीपन को देखते हुए उतना साहित्य नितान्त अपर्याप्त है। हमारी इस पुस्तक द्वारा बहुत सी उन दिशाओं में जिनमें कि अन्य पुस्तकों में कुछ उपेक्षा सी है, प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इसमें यद्यपि भिन्न-भिन्न लेखकों के लेख हैं तथापि यह नितान्त संग्रह ग्रन्थ नहीं है। ये लेख विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए प्रसादजी का एक सर्व सुलभ एवं व्यापक अध्ययन उपस्थित करने के उद्देश्य से लिखाये गये हैं। विभिन्न लेखकों के लेख होने के कारण कहीं-कहीं पुनरुक्ति अवश्य हो गई है किन्तु उनके लेखों को स्वतः पूर्ण बनाने के लिए वह आवश्यक थी। इस संस्करण में थोड़ा संशोधन और परिवर्धन भी हुआ है। कामायनी की भावमूलक व्याख्या, प्रसादजी की कहानी तथा प्रसादजी का प्रकृति चित्रण, आँसू की प्रेम-मीमांसा आदि लेख इसमें विशेष रूप से जोड़े गये हैं। आशा है इनकी उपयोगिता को पाठक स्वयं स्वीकार करेंगे।

निवेदक—

गुलाबराय।

विषय-सूची

मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझा कर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त नीलिमा में असंख्य जीवन-इतिहास—
देखो, करते ही करते हैं अपना व्यङ्ग मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे यह गागर रीती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुमही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की।
अरे खिल-खिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया?
आलिङ्गन में आते-आते मुसक्या कर जो भाग गया।
जिसके अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?
छोटे-से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ?
सुनकर क्या तुम भला करोगे मेरी भोली आत्मकथा?
अभी समय भी नहीं, थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

प्रसादजी की जीवन-कथा

प्रसादजी का जन्म माघ शुक्ला १२, १९४६ को ऐसे कुल में हुआ जहाँ कहावत है—सोने की कटोरी में दूध-भात खाते हैं। सुँघनी साहु घराना काशी में मशहूर है। वैश्य हलवाई समाज के बाहर भी इस घराने खूब मान-प्रतिष्ठा है। पितामह बाबू शिवरत्न ने जरदा, सुरती और तम्बाकू कारोबार को बढ़ाकर खूब धन और यश पैदा किया, साथ ही दोनों हाथों दान भी देते रहे। उनकी दानशीलता की कहानी अब भी काशी के बड़े-बूढ़ों की जबान पर है। कहते हैं, अब लोग साक्षात होने पर 'महादेव' शब्द उच्चारण कर उनका स्वागत करते थे। यह प्रतिष्ठा काशी-नरेश को छोड़ कर और किसी को प्राप्त नहीं है। साहु शिवरत्न के सुपुत्र बाबू देवीप्रसाद ने अपने पिता और वंश की प्रतिष्ठा कायम रक्खी। उनके दो लड़के हुए—ज्येष्ठ शम्भुरत्न और कनिष्ठ जयशङ्कर।

जयशङ्कर का बचपन खुशहाली में बीता। अपने बाद के जीवन में प्रसादजी अपने बाल-काल की स्मृतियाँ अपने इष्ट-मित्रों को सुनाया करते थे। लेकिन पुराने वैभव को लेकर उनमें अभिमान जरा भी न था। लड़कपन में उन्हें कसरत का भी बहुत शौक था। इसीलिए अन्तिम दिनों से एक साल पहले तक उनका शरीर बहुत सुन्दर, तेजोमय और भव्य रहा। जिन लोगों ने उन्हें देखा है उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हुए बिना न रहे होंगे। उन्हें घुड़सवारी से भी शौक था। वे अच्छे सवार थे। जब उनके मित्र मोटर लेकर उनके पास आते, तो प्रसादजी कहा करते "सवारी तो घोड़े की है"। एक सहृदय कवि यह मशीन से कब सन्तुष्ट हो सकता था?

जयशङ्कर की स्कूली शिक्षा अल्पकालिक रही। स्थानीय क्वीन्स कालेज में वे सातवें दर्जे तक पढ़ सके। इसी समय १२ वर्ष की अवस्था में उन पर और उनके परिवार पर वज्रपात हुआ। पिता का स्वर्गवास हुआ। परिवार का सारा भार ज्येष्ठ भ्राता शम्भुरत्न पर आ पड़ा। उन्होंने स्कूल में तो नहीं, घर में जयशङ्कर की पढ़ाई की व्यवस्था की। विभिन्न अध्यापकों की सहायता से जयशङ्कर ने अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। संस्कृत की ओर उनकी विशेष रुचि रही। इसी समय उनमें पुरातत्व साहित्य के अध्ययन का बीजारोपण हुआ। जिसके फल स्वरूप आगे चलकर प्रसादजी ने अपने प्राचीन साहित्य सम्बन्धी ज्ञान और बौद्ध कालीन इतिहास, वेद, पुराण, उपनिषद, स्मृति आदि गहन विषयों के अध्ययन से हिन्दी साहित्य को परिपूरित किया।

१७ वर्ष की अवस्था में प्रसादजी पर दूसरी विपत्ति पड़ी। बड़े भाई का भी स्वर्गवास हो गया। सारे परिवार और बड़े व्यवसाय का बोझ कोमल किशोरवय बालक पर आ पड़ा। इस समय उनके सामने दो बड़ी समस्याएँ थीं। एक ओर तो बड़े भाई की अपूर्व दानशीलता और शाहखर्ची के कारण चढ़ा हुआ पारिवारिक कर्ज। दूसरी ओर नाबालिगपन का लाभ उठाकर कुछ स्वार्थी सम्बन्धी उनकी जायदाद हड़प करने की चेष्टा कर रहे थे। प्रसादजी ने इस सांसारिक घात-प्रतिघात द्वन्द्व और कोलाहल का साहसपूर्ण सामना किया और इसमें सफल भी हुए। सन् १९२९-३० तक उन्होंने समस्त पारिवारिक कर्ज अदा कर दिया।

जीवन-यापन के इन्हीं दिनों में प्रसादजी का व्यक्तित्व बना और संसार के सम्बन्ध में उनकी विचार-धारा की सृष्टि हुई। बाद में गहन अध्ययन के कारण उनमें दार्शनिकता आ गई। इन सब बातों की छाया उनकी रचनाओं में है। यह भी याद रहे, उन दिनों आज की भाँति जनता में राष्ट्रीय जागरण न था। उस समय साधारण वर्गों में आर्यसमाजी आन्दोलन ही क्रान्ति का प्रतीक था। कहा जाता है कि आदमी के जवानी के

शायद इसी कारण प्रसादजी के उपन्यासों में आर्यसमाजी क्रान्ति का धुँधला सा चित्र दिखाई देता है।

अपने बड़े भाई के जीवन-काल में ही प्रसादजी को कविता से शौक हो गया था। असमय में ही पड़ने वाली विपत्तियों ने शायद किशोर प्रसाद के कोमल हृदय को आक्रान्त कर दिया था—उसमें टीस उत्पन्न की थी, जिसकी अभिव्यक्ति तुकबन्दियों में हुई। उस अल्हड़ जवानी में दूकान पर बैठकर प्रसादजी बहीखाते के रद्दी कागजों की पीठ पर कविताएँ लिखा करते थे। इस पर उनके बड़े भाई रुष्ट भी हुए थे, क्योंकि उनका ख्याल था कि इससे दूकान के काम में बाधा पड़ती है।

१६०७–८ के लगभग प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताएँ सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगीं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ संस्कृत कवियों के अनुसरण पर, व्रजभाषा की पुरानी शैली में हैं। इसके बाद प्रसादजी ने खड़ी बोली में लिखना शुरू किया। नई शैली की कविता लिखने वालों में प्रसादजी प्रथम हैं। उस काल में उन्होंने अपनी आँखों से नई पीढ़ी के कवियों के प्रति पुराने हिन्दी-साहित्यिकों की प्रतिक्रिया—लोकमत की क्रीड़ा देखी। उन्हीं की प्रेरणा से काशी से 'इन्दु' निकला, जिसमें उनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होती रहीं। खेद है, 'इन्दु' असमय में ही बन्द हो गया।

प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताओं का प्रथम संग्रह, कानन-कुसुम लगभग १६११ अथवा १६१२ में प्रकाशित हुआ। उनकी अन्य प्रारम्भिक कविता पुस्तकें हैं—प्रेम-पथिक और महाराणा का महत्त्व। इन काव्य-ग्रन्थों ने हिन्दी कविता साहित्य में उथल-पुथल मचा दी। आज प्रसादजी हिन्दी के युग-प्रवर्त्तक कवि हैं।

प्रसादजी ने कविताएँ ही नहीं लिखी, नाटकों की ओर भी ध्यान दिया। उनका सब से पहला नाटक सज्जन है। यह अब अप्राप्य है। प्रारम्भिक नाटकों में उन्होंने काव्य का ही अधिक सहारा लिया है। नाटक के सभी

पात्र कविता में बात-चीत करते थे। करुणालय और उर्वशी नाटक ऐसे ही हैं। इसके बाद उन्होंने यह शैली छोड़ दी। प्रसादजी के बाद के नाटक खूब प्रसिद्ध हुए। कविता की भाँति प्रसादजी ने नाटकों में भी युग-परिवर्तन किया। उनके जैसा नाटककार हिन्दी में आज भी कोई नहीं है। प्रसादजी के अधिक नाटक ऐतिहासिक हैं। उनका आधार-स्तम्भ प्राचीन भारतीय सभ्यता है। प्रसादजी के प्रसिद्ध नाटकों में चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, स्कन्द गुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, ध्रुवस्वामिनी गिने जाते हैं।

सन् १९११ में प्रसादजी की पहली कहानी ग्राम शीर्षक से 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। यह हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी है। संवत् १९६९ में प्रसादजी की ५ मौलिक कहानियों का 'छाया' नामक हिन्दी का प्रथम कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ। अब 'छाया' के तीसरे संस्करण में प्रसादजी की सं० १९६९ से १९७५ तक लिखी हुई ११ कहानियाँ संग्रहीत हैं। कविता और नाटकों की भाँति प्रसादजी ने कहानी के क्षेत्र में भी युगान्तर उपस्थित किया। प्रेमचन्द और सुदर्शन के बाद प्रसाद कथा क्षेत्र में आए। उनकी कहानियाँ काफी लोकप्रिय हुई। फिर भी कहानी-साहित्य में प्रसादजी का अपना स्थान है। ये कहानियाँ भी ज्यादातर प्राचीन भारतीय सभ्यता को प्रकाश में लाने वाली हैं। कुछ सामाजिक कहानियाँ भी थीं। अभी थोड़े दिन हुए प्रसादजी की नई कहानियों का संग्रह 'इन्द्रजाल' प्रकाशित हुआ था।

कुछ लोग आश्चर्य करते हैं कि किस तरह प्रसादजी व्यवसाय के साथ ही साहित्य की भी सृष्टि कर सके। इसके सिवा संस्कृत-साहित्य के अध्ययन में भी उनका काफी समय जाता था। इन सब बातों से पता चलता है कि प्रसादजी कितने कर्मशील व्यक्ति थे। गोवर्द्धन सराय में उनके घर पर तथा नारियल बाजार वाली उनकी दूकान पर साहित्यिकों का ताँता लगा रहता था। एक तरफ वे व्यवसाय को सँभालते थे, दूसरी तरफ साहित्यिक वार्त्तालापों का भी रस लिया करते थे। अधिकतर वे मण्डली के बीच तटस्थता का भाव ग्रहण करते थे, प्रसादजी चुपचाप सुना करते थे।

बीच-बीच में अपनी मधुर मुसकान के साथ दो एक सरस बातों तथा पुरानी जीवन-स्मृतियों के साथ मण्डली को मुखरित कर देते थे।

प्रसादजी विज्ञापन से बहुत डरते थे। * 'इन्टरव्यू', 'सम्मति', विवाद-ग्रस्त प्रश्नों के उत्तर—इनसे वे दूर रहते थे क्योंकि वे जानते थे कि बीसवीं शताब्दी के पत्रकार कैसे तिल का ताड़ तना लेते हैं। सभाओं और कवि-सम्मेलनों में लोग उन्हें बुलाते लेकिन प्रसादजी हँस कर टाल देते। अगर कोई लेखक उनसे उनके जीवन-सम्बन्धी सामग्री की माँग करता तब भी वे मौनावलम्बन कर लेते। जो लोग उनके सम्बन्ध में लिखते थे उन्होंने कभी प्रोत्साहन का एक शब्द भी नहीं लिखा। उनकी रचनाओं के विरुद्ध लिखने वालों से भी उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा—हमेशा हँसकर उनका स्वागत किया।

प्रसादजी अपनी स्वजाति के उत्थान में योग देने के लिए हमेशा तत्पर रहते थे। अपने स्वजातियों के मिलने पर इस विषय पर काफी चर्चा करते और परामर्श देते। वैश्य-हलवाई समाज की हीनावस्था पर वे बहुत दुखी थे। अशिक्षा पर तो उनकी आँखों में आँसू भर आते थे। लेकिन वे कोई काम ढिंढोरा पीटकर नहीं करना चाहते थे। कान्य-कुब्ज वैश्य-हलवाई-महासभा के अखिल भारतवर्षीय अधिवेशन के सभापतित्व के लिए कई बार उनसे प्रार्थना की गई लेकिन उन्होंने सदैव असमर्थता प्रकट की। सन् २६ में आपने किसी तरह इस पद को कबूल किया लेकिन इसी समय घर में किसी के बीमार पड़ जाने के कारण वे महासभा में भाग न ले सके और थोड़े दिनों बाद सरदारी के पद से इस्तीफा दिया।

सन् १९२५ में प्रसादजी की अत्यन्त प्रसिद्ध कविता-पुस्तक आँसू की रचना हुई। आँसू के बहुत से छन्दों की रचना बगीचे में अथवा गङ्गा के वक्ष-स्थल पर नाव पर हुई। रुई की मिरजई जिस पर सिंघाड़े से कटे हुए,

---

* प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित प्रसादजी के पत्र से इस कथन की पुष्टि होती है।

जेब में चश्मे का केस और पेंसिल तथा पाकेट-बुक रखे हुए, ऊपर से शाल ओढ़ कर—इस तरह की वेश-भूषा में टहलते हुए कवि प्रसाद अक्सर उन दिनों 'आँसू' की पंक्तियाँ गुनगुनाया करते थे।

दिसम्बर १९३१ में प्रसादजी ने सपरिवार कलकत्ता और पुरी आदि स्थानों की यात्रा की। पुरी के समुद्र-तट पर ही उन्होंने अपनी इन सुविख्यात पंक्तियों की रचना की।

"ले चल वहाँ भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे।"

इन दिनों प्रसादजी ने 'जागरण' में काफी दिलचस्पी ली। 'इन्दु' के बाद एक तरह से 'जागरण' दूसरा पत्र है, जिसके कालमों में प्रसादजी के व्यक्तित्व की झाँकी मिलती है। पाक्षिक 'जागरण' विनोद-शंकर व्यास प्रकाशित करते थे। प्रसादजी उसके प्रत्येक अङ्क में कुछ मैटर दिया करते थे। 'जागरण' का नाम उन्होंने ही रखा। इसे वह खूब फलते-फूलते देखना चाहते थे। उनकी अगनित स्मृतियों के खंडहर में 'जागरण' भी दबा पड़ा है।

'कामायनी' महाकाव्य हिन्दी संसार को प्रसादजी की अन्तिम भेंट है। इसे समाप्त कर वे 'इरावती' उपन्यास लिखना चाहते थे। कामायनी रचना उनके अथक परिश्रम और अटूट अध्ययन के फल स्वरूप है। इसे लिखकर उन्होंने श्री विनोदशंकर व्यास से कहा था—कामायनी लिखकर मुझे संतोष है।

१९३६ में लखनऊ में बड़ी प्रदर्शिनी हुई। वहाँ से लौटने के कुछ ही दिनों बाद २२ जनवरी को प्रसादजी ज्वर से पीड़ित हुए। २१ जनवरी को उनके कफ की जाँच कराई गई तो पता लगा प्रसादजी को राजयक्ष्मा हो गया है। दिनों-दिन उनकी तबीयत गिरती गई। प्रसादजी शायद इस भयानक रोग के अन्तिम परिणाम से भली-भाँति परिचित हो गये थे। डाक्टरों ने उन्हें बाहर जाने की सलाह दी, लेकिन उन्होंने काशी नहीं

होगी। कहा—जो कुछ होना होगा यहीं होगा। बीमारी के अन्तिम दिनों में उन्हें चर्म-रोग भी हो गया। अब उनकी सूखी हड्डियों पर त्वचा का पतला सा आवरण-मात्र रह गया था। वह सुन्दर मनोरम आकृति कितनी भयानक हो उठी थी। ६–१० नवम्बर से हालत बिगड़ने लगी। एकादशी की शाम को हालत ज्यादा खराब हो गई। साँस लेने में बहुत कष्ट होने लगा। डाक्टरों ने कहा—जो कुछ कहना हो कह दीजिए। प्रसादजी ने कहा—साँस लेने में बहुत कष्ट हो रहा है। उसे दूर करने की दवा दीजिए। ४॥ बजे जयशंकर जी नश्वर शरीर के बन्धन से मुक्त होकर अमरों के लोक में पहुँच गये।

कविवर प्रसाद

('प्रसादजी की-कवि-कृतियों का विकास-क्रम)

कलाकार जयशङ्करप्रसादजी की प्रत्येक रचना में कवि-हृदय का स्पन्दन स्वभाव-रूप से विद्यमान है। प्रसादजी का जीवन काव्यमय था। वे एकांगी थे—उनका साहित्य सर्वांगीण है। जयशङ्करप्रसाद के पूरे अध्ययन के लिए उनका कवि-रूप समझना अनिवार्य है। कहानियों, नाटकों, तथा उपन्यासों में उनकी काव्यात्मा अस्पष्ट रूप से ध्वनित हुई है।

कवि प्रसादजी का खड़ी बोली कविता के विकास के इतिहास में प्रमुख स्थान है। आपकी कविता उस समय आविर्भूत हुई जिस समय हिन्दी का द्विवेदी-युग प्रारम्भ हो रहा था। यह वह युग था जब हिन्दी-काव्य को ब्रजभाषा की मधुरता के सामने अपना अस्तित्व बनाना पड़ रहा था। स्वयं प्रसादजी ने सर्व प्रथम ब्रजभाषा में अपनी प्रारम्भिक कविताएँ लिखीं। उन्होंने संस्कृत और बंगला से आत्म-प्रेरणा पाई और हिन्दी कविता की पुरानी शैली से पृथक्त्व प्राप्त किया। संवत् १९६६ में प्रसादजी की ब्रजभाषा की रचनाओं का एक संग्रह 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ।

इस संग्रह में तीन बड़ी इतिवृत्तात्मक कविताओं के 'अयोध्या का उद्धार' 'बन मिलन' और 'प्रेम राज्य' जो कि प्राचीन कथानकों के आधार पर लिखी गई थी कुछ समस्या पूर्ति के ढंग की भी कविताएँ हैं। यह संग्रह प्रसादजी के काव्य-विकास को समझने के लिए आवश्यक है, अन्यथा इसका स्वतन्त्र महत्व अधिक नहीं है किन्तु इनमें भी कवि की धार्मिक तथा रहस्यात्मक अभिरुचि का पता चलता है।

खड़ी बोली के क्षेत्र में, प्रसादजी द्विवेदी-युग के प्रभाव से अलग रहे। आपकी कविताएँ भी अधिकतर 'सरस्वती' में न छपकर "इन्दु" मासिक-पत्र में प्रकाशित होती थीं। आपकी कविताओं का दूसरा संग्रह "कानन कुसुम" के नाम से निकला। प्रसादजी ने भी मुख्यतः प्रेम तथा शृंगार पर रचनाएँ कीं परन्तु आपने व्रजभाषा काव्य से कई विभिन्नतायें भी रखीं। प्रसादजी ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में न लेकर आलम्बन के रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न किया। प्रसादजी का संस्कृत का अध्ययन बहुत बढ़ा हुआ था। इसीलिए आपने उस समय एक नवीन पथ की ओर पैर बढ़ाया। आपने संस्कृत कवियों की ध्वन्यात्मक शैली लेकर हिन्दी काव्य-क्षेत्र में अभिव्यक्ति की एक नवीन शैली प्रचलित करने का प्रयास किया। इस प्रकार प्रसादजी एक नवीन भावाभिव्यक्ति-शैली लेकर आगे बढ़े। आपकी कविताएँ जनता को रुचिकर प्रतीत हुईं; उसने आपकी एक नवीन शैली का अनुकरण किया।

प्रसादजी को साहित्यिक शुद्ध अतुकान्त कविता का जन्मदाता मानना चाहिए। आपने अतुकान्त कविता किसी साहित्यिक सिद्धान्त वश नहीं अपितु उसको अधिक स्वाभाविक तथा वार्तालाप गीति-नाट्य के योग्य बनाने के लिए ही लिखा। प्रसादजी ने अतुकान्त कविता को एकतानता (monotony) के दोष से बचाने के लिए विभिन्न छन्दों में लिखा है। उन्होंने गीति-नाट्य अथवा प्रबन्ध काव्य में, पात्रों के वार्तालाप में प्रवाह तथा स्वाभाविकता लाने का अतुकान्त कविता द्वारा जो प्रयत्न किया उसमें वे सफल हुए तथा अन्य कवियों ने भी आपका अनुकरण किया। राय कृष्णदास के "उपवन" तथा पन्तजी की "ग्रन्थि" इसी अनुकरण के परिणाम हैं। आगे चलकर 'निराला' ने भी अतुकान्त गीत लिखे। प्रसादजी ने भी अपने 'लहर' नामक संग्रह में और भी कई प्रौढ़ अतुकान्त रचनाएँ लिखी। 'निराला' और 'प्रसाद' मानों एक ही कण्ठ के दो उद्‌गार हैं।

प्रसादजी की छोटी-छोटी अतुकान्त रचनाएँ निकलीं। एक का नाम है "महाराणा का महत्व" इसमें प्रसादजी ने महाराणा प्रताप के उदार चरित्र का चित्रण बड़ी सूक्ष्म, सरल तथा सफलता के साथ किया है

सिक काव्य में अतुकान्त छन्द प्रयुक्त हुआ है। इसी कारण इसमें कथा-प्रवाद और वाग्विदग्धता का पूरा समावेश हुआ है। प्रताप की आँखों की मुद्रा का वर्णन देखिये:—

"दोनों आँखें उठ-उठ कर बतला रहीं
जीवन-मरण समस्या उनमें है भरी।"

महाराणा के उन्नत एवं पवित्र चरित्र की स्वीकृति उनके शत्रुओं के भी मुख से कराई गई है। यथा:—

"सच्चा साधक है सपूत निज देश का
मुक्त पवन में पला हुआ वह वीर है।"

इसी पुस्तिका में रात्रि-वर्णन की ये सुन्दर पंक्तियाँ आई हैं—

तार हीरक-हार पहन कर, चन्द्रमुख—
दिखलाती उतरी आती थी चाँदनी
शाही महलों के ऊँचे मीनार से
जैसे कोई पूर्ण सुन्दरी प्रेमिका—
मन्थर गति से उतर रही हो सौध से।"

"करुणालय" शीर्षक प्रसादजी की दूसरी छोटी रचना है। यह एक अतुकान्त गीति-नाट्य है और इसका कथानक वैदिक काल के पश्चात् किये गये भयंकर नरमेध-यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। चरित्र-चित्रण करने में कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है। केवल कथानक को सीधे ढंग से सुन्दर शब्दों में लिपिबद्ध कर दिया गया है। 'रोहित' और 'शुनः शेफ' के चरित्र सुन्दर बन पड़े हैं। रोहित के निम्नस्थ शब्दों में मानो स्वयं प्रसादजी ही ध्वनित हो उठे हैं:—

"चलो 'सदा चलना ही तुमको श्रेय है।
खड़े रहो मत, कर्म-मार्ग विस्तीर्ण है॥"

और भी—

"अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया

रे मनुष्य ! तू कितने नीचे गिर गया
आज प्रलोभन-भय तुझसे करवा रहे
कैसे आसुर-कर्म ! अरे तू क्षुद्र है—
क्या इतना है ?"

ऐसी ही परिस्थिति में आपकी दूसरी रचना "प्रेम-पथिक" निकली। संवत् १९६२ में प्रसादजी ने इसे ब्रजभाषा में लिखा था। परन्तु संवत १९७० में आपने इसका 'परिवर्तित, परिवर्द्धित तुकान्त-विहीन' रूप कर दिया।

"प्रेम-पथिक" में अतुकान्त छन्द घनाक्षरी प्रयुक्त हुआ है। उसमें प्रसाद, लय, संगीत तथा ध्वनि सभी कुछ है। 'प्रसादजी की प्रारम्भिक कविताएँ जितनी सरल हैं, बाद कि उतनी ही गूढ़ तथा कठिन। "प्रेम-पथिक" के कथानक में सरल प्रेम की एक कथा है।

बीच-बीच में कवि ने सुन्दर वाक्यों द्वारा भाषा पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया है। प्रसादजी की निम्न पंक्तियाँ हमें मुग्ध कर लेती हैं—

"पथिक ! प्रेम की राह अनोखी भूल-भूल कर चलना है
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।"

उपरोक्त छोटी किन्तु महत्त्वपूर्ण युग-निर्मात्री काव्य-पुस्तकों के पश्चात् तो प्रसादजी का विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ। वे इतिहास से मनोवृत्तियों की ओर झुके। आगे चल कर उनकी कविताएँ इतिवृत्तात्मक न होकर मनोवृत्तात्मक होती गईं। बाह्य से अन्तर्जगत अधिक सत्य भासित होने लगा। कवि की दृष्टि शरीर से आत्मा पर पहुँची।

कविवर प्रसादजी केवल अनुभूतिपूर्ण कविता के आरम्भकर्त्ता ही न थे अपितु उन्होंने हिन्दी में "छायावाद" का भी श्री-गणेश किया। इस विषय की कविताएँ "झरना" में संकलित हैं। "झरना" में हमें सर्वप्रथम प्रतिभावान कवि के दर्शन होते हैं। भाषा, भाव, छन्द, संगीत आदि सभी दृष्टियों से "झरना" एक अनुपम काव्य कृति है। उससे एक युग का प्रारम्भ होता है। इसलिये "झरना" काव्य-इतिहास का एक स्वर्ण पृष्ठ है।

"झरना" खड़ी बोली में भावपूर्ण कविता करने का प्रथम सफल प्रयास है। यद्यपि इसमें संगीत और ध्वनि-सौन्दर्य की कमी है फिर भी छन्दों की विभिन्नताएँ पुस्तक को एक स्वर होने से बचाती हैं। "झरना" में कवि के विभिन्न समय एवं परिस्थितियों में निकले हुए स्वतन्त्र उद्गार हैं प्रत्येक कविता का आश्रय मूलतः प्रेम है। अपनी विभिन्न मनोदशाओं (Moods) और भावों की सूक्ष्म अभिव्यंजना इस पुस्तक में की गई है। इतनी सुबोध भावात्मक कविता उस समय हिन्दी में नहीं लिखी जाती थी। इसीलिए "झरना" आज भी हमारे लिए एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

"झरना" में कुल ४८ कविताएँ हैं। प्रत्येक में भावुकता एवं प्रेम-सूत्र दर्शनीय है। अनेकों कविताएँ बहुत ही सुन्दर तथा उच्चकोटि की हैं। स्थान-स्थान पर एक नैसर्गिक सत्ता की ओर अनिश्चित संकेत है। इसमें "छायावाद" अपनी प्राथमिक तथा अविकसित अवस्था में विद्यमान है। कवि "झरना" को देख कर उसके सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहता, अपितु—

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
मनोहर झरना,

कठिन गिरि कहाँ विदारित, झरना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी॥
"कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥
देखकर झरना—"

वस्तु को उसकी दृष्टिगोचर संकुचित वास्तविकता में न देखकर उसमें कुछ आध्यात्मिक संकेत पाना या प्राकृतिक वस्तुओं में मानवी भावों की छाया देखना छायावाद की विषय गत विशेषताओं में से है। इस कविता में झरना केवल जल प्रपात न रहकर कुछ गहरा आध्यात्मिक संकेत देने लग जाता है।

कवि को 'बात कुछ छिपी हुई है गहरी' का भान होता है। वह अपने काव्य-विषय से बाहर एक ऐसे छाया-लोक में पहुँच जाता है जहाँ की बात को हम साँसारिक साधारण भाषा में नहीं व्यक्त कर सकते, केवल संकेत भर कर देते हैं। ऐसे 'मूड' का चित्रण "झरना" की अनेकों कविताओं में है।

इसी प्रकार 'किरण' शीर्षक कविता में छायावाद की झलक है। प्रसादजी के लिए 'किरण' "किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती-सी" है। प्रकृति में "विषाद की मूक छाया है। इसमें हम छायावाद की शैली को भी अधिक विकसित रूप में पाते हैं, देखिये—

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज, रँगी हो तुम किसके अनुराग,
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान, उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश, मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती सी तुम कौन?
+ + +
सुदिन मणि वलय विभूषित उषा—सुन्दरी के कर का संकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर [illegible]

चपल ठहरो ! कुछ लो विश्राम, चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त,
सुमन मन्दिर के खोलो द्वार, जगे फिर शोभा वहाँ वसन्त।

इस कविता में किरण को उसके केवल भौतिक रूप से ही नहीं लिया है वरन् उसको किसी अज्ञात विश्व की विकल-वेदना-दूती-सी सूर्य रूपी वलय से विभूषित उषा सुन्दरी के कर का संकेत कहा है। इसमें प्रकृति का मानवीकरण भी काफी है 'चपल ! ठहरो कुछ लो विश्राम.......'। 'धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश' में मूर्त की अमूर्त से तुलना के और प्रभाव-साम्य के शैली गत के उदाहरण कुछ प्रचुरता से मिलते हैं। ऐसे छायावादी शैली में विशेष रूप से मिलते हैं।

दीप के प्रति कवि की एक सुन्दर उक्ति देखिए—

किसी माधुरी स्मित-सा होकर यह संकेत बताने को,
जला करेगा दीप, चलेगा यह सोता वह जाने को।"

"झरना" की अनेकों कविताओं में प्रसादजी के प्रेम-पूर्ण आशामय उद्गार हैं। कवि के लिए संसार आशामय है। 'मिलन' कविता में ये पंक्तियाँ हैं—

"मिल गये प्रियतम हमारे मिल गये।
यह अलस जीवन सफल अब हो गया॥
कौन कहता है जगत है दुःखमय,
यह सरस संसार सुख का सिंधु है।"

"झरना" से "लहर" तक आते-आते प्रसाद की कविता में क्रान्तिपूर्ण परिवर्तन हो चुका है। भावों की प्रौढ़ता, विचारों की गम्भीरता और कल्पना की व्यञ्जना—सभी कुछ "लहर" में एकत्रित हैं। "झरना" में कवि की आत्मा जिन भावों को लेकर प्रस्फुटित हुई थी, उन्हीं भावों की प्रतिध्वनि "लहर" में है। सूत्र एक ही है; परन्तु उसके व्यक्तीकरण में भेद है। वेदना की मात्रा अधिक हो गई है। शुद्ध कल्पना का समावेश हुआ है और आध्यात्मिकता से विराग ले लिया गया है।

"लहर" में शीर्षक विहीन अनेकों प्रकार की कवितायें संग्रहीत हैं।

अन्त में "शेरसिंह का शस्त्र समर्पण", "पेशोला की प्रतिध्वनि", और "प्रलय की छाया" तीन अतुकान्त कवितायें हैं। बौद्ध इतिहास की घटनाओं और बौद्ध-स्थलों पर भी दो एक सुन्दर कवितायें संकलित हैं। "अरी वरुणा की शान्त कछार" से प्रारम्भ होने वाली कविता में बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों का सुन्दर उद्घाटन हुआ है। देखिये प्रसादजी की विचार-धारा। "लहर" की कविताओं में काव्य-जगत् की सुन्दरता खरे रूप में उतर आई है। एक बहुत ही मनोरम प्रभात सम्बन्धी काल्पनिक चित्र इस प्रकार है—

"बीती विभावरी जाग री !
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारागन ऊषा नागरी।"

परन्तु कवि प्रसाद के प्रेमोद्गारों को यदि हम शत-शत धाराओं में फूटते, सुन्दर चन्द्रिका की किरणों पर एक काल्पनिक जगत् में विचरण करते हुए देखने की अपेक्षा रखते हैं तो हमें उनकी सर्वप्रिय रचना "आँसू"* को देखना चाहिए और करुण हृदय प्रसाद का प्रिय विषय है। आँसू की महिमा उन्होंने ब्रज भाषा में भी गाई है—

ताता-तातो कढ़ि रूखे मन को हरित करै,
एरे मेरे आँसू तैं पियूष तैं सरस हैं।'

"आँसू" ने हिन्दी काव्य की धारा का बदल दिया। वह हमारे काव्य-साहित्य में एक साका उपस्थित करती है। उसके बराबर लोकप्रिय रचना हिन्दी में बच्चन को छोड़कर कम ही है। अनेकों कवियों ने "आँसू" का अनुकरण किया। प्रेम और निराशा ये दो प्रधान बातें आँसू में हमें मिलती हैं। "आँसू" के कवि के लिए यह संसार "व्यथित-विश्व-आँगन" है। वह प्रश्न कर बैठता है—

"क्यों छलक रहा दुख मेरा,
ऊषा की मृदु पलकों में?"

तथा—"जीवन में मृत्यु बनी है,
जैसे बिजली हो घन में।"

स्थल-स्थल पर प्रेम-उद्गार बड़ी मार्मिक शैली में व्यक्त किये गये हैं—

"विष-प्याली जो पीली थी,
वह मदिरा बनी नयन में।
सौन्दर्य पलक प्याले का,
अब प्रेम बना जीवन में।"

"आँसू" में निराशा के साथ-साथ सामंजस्य-बुद्धि का भी समावेश हुआ है। कवि मानो किसी ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचा है जिसे वह संसार के सम्मुख रख देना चाहता है—

"मानव-जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का
दुख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।"

"आँसू" का कवि भाव कल्पना से भरा हुआ है। उसमें वह कल्पना जगत का पथिक है। और उसकी विधायक शक्ति पूर्णरूपेण प्रदर्शित है। भविष्य की "कामायनी" के रचनाकार की उसमें झाँकी मिलती है।

× × ×

"आँसू" से "कामायनी" तक आते-आते ऐसा प्रतीत होता है, मानों कवि ने अपना एक युग पूर्ण कर नवीन संसार में प्रवेश किया है। कामायनी समस्त हिन्दी संसार की अद्वितीय वस्तु है। उसमें प्रसादजी "महाकवि" के रूप में प्रकट हुए हैं। कामायनी में जीवन का कोई विशेष अङ्ग नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवन है। ऐसा लगता है, मानो कवि प्रसाद जीवन भर किसी विशाल विषय की खोज में रहे थे और जीवन की अन्तिम घड़ियों में ही वह खोज सफल हुई। मिल्टन और दाँते के काव्य की सी कथावस्तु कामायनी की भी है। वह विश्व-साहित्य की अनोखी चीज है। मृत्यु समय

प्रसादजी ने जो अन्तिम भेंट हमें दी है, वह हिन्दी संसार की अमर सम्पत्ति है। हिन्दी उनकी चिर ऋणी रहेगी।

"कामायनी" की कथा-वस्तु पौराणिक है। वह पुरातन स्वर्ण युग के समय की घटना को लेकर आगे चलती है। उसमें आदि पुरुष और आदि स्त्री के चरित्र अङ्कित हुए हैं। 'कामायनी' जीवन की फिलासफी का क्रमिक तथा स्वाभाविक विकास है। उसकी रचना मानवात्मा की एक शाश्वत पुकार को लेकर हुई है। उसमें जीवन के प्रश्नों को बौद्धिक दृष्टि से सुलझाया गया है। उसमें एक सहज रूपक द्वारा कल्पना तथा कविता की सहायता से जीवन के चिरंतन सत्य की चिरनवीन झाँकी दी गई है। कामायनी' की कथावस्तु सार्वदेशिक एवं शास्वत है वह निस्सीम है। है। वह प्रत्येक देश, जाति, काल, धर्म सभी से अमर है।

'कामायनी' में मनु और इड़ा का चित्रण तो अपूर्व हुआ ही है, साथ ही, अनेकों स्थलों पर प्रथम कोटि के काव्योद्गार भी हैं। प्रारम्भ में ही जलप्लावन का दृश्य बड़ा सुन्दर है तथा चिन्ता का वर्णन भी बहुत प्रभावोत्पादक शैली में हुआ है। 'कामायनी' में स्वतन्त्र रूप से अनेकों गीत (lyrics) बिखरे पड़े हैं। काव्य की दृष्टि से, चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तथा अन्य सभी दृष्टियों से 'कामायनी' एक सफल रचना है।

"कामायनी" की रचना से ही कविवर प्रसादजी "महाकवि" के पद पर समासीन हो जाते हैं। हमारा पूर्ण विश्वास है कि यह कालान्तर में एक लोकप्रिय रचना होगी। वास्तव में प्रसादजी की मृत्यु में हमने हिन्दी साहित्य का सच्चा निस्वार्थ सेवक खोया है। हम उनका कुछ भी सम्मान न कर सके। कवि-रूप में वे एक युग-निर्माता थे। उनकी मृत्यु के साथ हिन्दी काव्य का एक युग चला गया है। साहित्य के एक अकिंचन विद्यार्थी होने के नाते हम नतमस्तक हो उनके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि प्रकट करते हैं।

प्रसादजी की कविता

कुछ दिनों के बाद रीतिकाल की विरोध-भावना भी रीति-ग्रस्त हो गई। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रीतिकाल के कवीन्द्र नायक, नायिका, रति, अभिसार, दाम्पत्य आदि के घेरे में चक्कर लगाते रहते थे उसी प्रकार उनके विरोधी 'कविरत्न' भी देशभक्ति, जाति-सुधार, महाराणा-प्रताप आदि की स्तोत्र-रचना और उसके पाठ में मग्न रहे। हृदय का साहचर्य न होने के कारण उनकी देशभक्ति निष्प्राण थी। उसमें कवित्व नहीं था, ऊपर समय के प्रभाव-स्वरूप इन लोगों को सौन्दर्य से, एक प्रकार से, घृणा हो गई थी। किसी प्रकार के भी सौन्दर्य, विशेषकर नारी-सौन्दर्य का सृजन, अश्लीलता समझी जाती थी। यह वह समय था जब हिन्दी के काव्यक्षेत्र पर कविराज पं० नाथूराम शंकर और साहित्याचार्य द्विवेदीजी का एक छत्र साम्राज्य था—जब छायावाद अन्धकार के गहन स्तरों में पड़ा हुआ स्वप्न देख रहा था। उन्हीं दिनों आज से बहुत पहले, जब छायावाद के देवदूत—पंत और निराला विद्यालयों में 'कागज़ी कुसुम' और 'सिगरेट के धुओं' से खेला करते थे, एक मनस्वी कलाकार अपना रंगीन अद्भुत-प्रिय कल्पना और सौन्दर्य-विभोर स्वस्थ भावुकता की डोरियों से इस युग का ताना-बाना बुन रहा था। यह कलाकार और कोई नहीं हमारे प्रसादजी ही थे जिनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने आज हिन्दी की प्रत्येक दिशा में दीपक-सा जला दिया है।

कविवर प्रसाद कवि, कहानी लेखक, नाटककार, उपन्यास-प्रणेता सभी कुछ थे और सब से पहले थे कवि। उनकी कहानियाँ छोटी-छोटी आख्यान-मयी कविता ही तो हैं, उनके नाटक और उपन्यास भी कवित्व से परिपूर्ण हैं, परन्तु यहाँ हमें उनका विवेचन नहीं करना। यहाँ तो हमें उनके उसी

साहित्यांश पर विचार करना है जो औरों से, कार्लायल (Carlyle) के शब्दों में, उसी पुराने गँवारू भेद (Old Vulgar distinction) छन्द के कारण विभिन्न है। प्रसादजी ने अपने छोटे-से जीवन-काल में हिन्दी के काव्य-क्षेत्र को अमूल्य निधियों से आपूर्ण कर दिया। चित्राधार और कानन-कुसुम के अतिरिक्त उनकी सात कविता पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। १—महाराणा का महत्त्व, २—प्रेम-पथिक, ३—करुणालय, ४—झरना, ५—आँसू, ६—लहर, ७—कामायनी। इनके अतिरिक्त उनके सभी नाटकों में अनेकों रसीले गान भरे पड़े हैं। प्रसाद का अकेला काव्य-साहित्य एक परिमाण की दृष्टि से भी किसी से कम नहीं।

प्रसादजी की कविता का क्षेत्र

जिस किसी ने प्रसादजी की कविता को एक बार भी पढ़ा होगा वह तुरन्त कह देगा कि उनकी कविता का मुख्य विषय प्रेम है। उनकी भावुकता ने अधिकतर प्रेम की परिधि में ही भांवरियाँ ली हैं। वे संसार को प्रेममय मानते हैं—उनकी धारणा है कि—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
सुख-दुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का।

प्रसादजी ने प्रेम के सभी अङ्गों को स्पर्श किया है—उनका प्रेम न तो केवल अतीन्द्रिय एवं आध्यात्मिक प्रेम ही है और न इन्द्रिय-लिप्सा ही। उन्होंने ऐन्द्रिय प्रेम का बहिष्कार नहीं किया। स्वस्थ ऐन्द्रिय प्रेम एक प्राकृतिक आवश्यकता है जिसका हमारे भावुक कवि ने उचित रीति से समादर किया है। उनके चित्रों में, उनके भाव-जगत में ऐन्द्रियता का काफी मान है। वे 'आँख के खेल' को भी उतना ही अनिवार्य समझते हैं जितना 'मन के खेल को'। प्रसादजी को इस बात का अनुभव है कि जीवन में एक ऐसा समय आता है जब मनुष्य उन्मत्त होकर किसी को आत्म-समर्पण करने के

फिर आतुर हो उठता है और उसे यह सोचने का समय भी नहीं मिलता कि हृदय किसको देता है, उस समय तो—

प्रथम यौवन मदिरा से मत्त, प्रेम करने की थी परवाह
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की थी तनिक न चाह !

उन्हीं के शब्दों में यौवनकाल जीवन-कानन में एक राका रजनी की छाया में छिपकर मधुर वसन्त घुस आता है। शरीर की सब क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन' कहकर सबको रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। × × × फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती है।

देखकर जिसे एक ही बार, हो गए हैं हम भी अनुरक्त
देख लो तुम भी यदि निज रूप, तुम्हीं हो जाओगे आसक्त।

यह प्रेम-रूप आसक्ति है—यौवन का खेल है। यह अब हमें कुछ भी लगे परन्तु मानव जीवन में इसका एक विशेष महत्त्व है—

यह रूप-आकर्षण विश्व भर में—समस्त जड़-चेतन में व्याप्त है। प्रसादजी कहते हैं कि संसार में यही एक मात्र परिचय का कारण है।

उषा का प्राची में आभास
सरोरुह का सर बीच विकास
कौन परिचय था क्या सम्बन्ध
गगन-मंडल में अरुण-विलास !

देखिए हमारे आदि पुरुष मनु की श्रद्धा का रूप सौन्दर्य पान कर क्या दशा हुई थी। श्रद्धा की रूप-ज्वाला कैसी थी—

'नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग।

× × × ×

या कि नव इन्द्रनील लघु श्रृंग
फोड़कर धधक रही हो कांत,
एक लघु ज्वालामुखी अचेत,
माधवी रजनी में अश्रांत।

उसे देख कर तपस्वी मनु का मन एक साथ विचलित हो जाता है और वे कह उठते हैं—

कौन हो तुम बसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
घन-तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा किरण समान,
हृदय के कोमल कवि की कांत
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शांत।

आगे वे ही मनु मनुहारें करते हैं—

कुचल उठा आनन्द, यही लज्जा है
बाधा दूर हटाओ
अपने ही अनुकूल सुखों को
मिलने दो मिल जाओ।"
'और एक फिर व्याकुल चुम्बन
रक्त खौलता जिससे
शीतल प्राण धधक उठता है
तृषा-तृप्ति के मिस से।

कवि के इस सौन्दर्य-चित्रण और रूप-आसक्ति में एक जीवन है—एक मादकभरी कम्पन है जो भावुक हृदयों को विभोर कर ... रागिनी गा रही है-

आज इस यौवन के माधवी-कुञ्ज में कोकिल बोल रहा !
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप !
लाज के बन्धन खोल रहा !
बिछल रही है चाँदनी, छवि मतवाली रात
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात
कौन मधु-मदिरा घोल रहा !

प्रसादजी की भावुकता यद्यपि अश्लीलता के अस्पृश्य तट को सदैव ही बचाती रही है' फिर भी कहीं-कहीं कुछ असंयत उद्गार उनके अनुरूप नहीं हुए हैं, उदाहरणार्थ—

लगाऊँगा छाती से आज
सुनो प्रियतम अब तुम्हें यहीं ।

इसके अतिरिक्त एकाध स्थान पर फारसी-काव्य का अस्वस्थ प्रभाव भी खटकता है । यथा—

'छिल-छिल कर छाले फोड़े'

किन्तु ऐसा उदाहरण उनकी प्रारम्भिक कृतियों में ही एकाध मिल जाता है ।

इस रूप-मोह के अतिरिक्त 'मन के खेल' की भी व्यञ्जना बड़ी ही मधुर और मादक हुई है । एक प्रकार से यही रूप मोह धीरे-धीरे मन को वस्तु हो जाता है—और प्रेमी प्रेम-पात्र के रूप का नहीं उसके व्यक्तित्व का पुजारी हो जाता है—इस प्रेम में ऐन्द्रियता नहीं होती—यह भावना-प्रधान (Ideal) प्रेम होता है । उर्मिला के शब्दों में—

'पहिले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे' ।

—साकेत

इस प्रेम में प्रेमी अपने अस्तित्व को प्रेम-पात्र के अस्तित्व में मिला देता है—उसे अपनी कोई आकांक्षा नहीं रहती । तब तो बस यही 'अनुनय' रहता है कि—

क्रोध से, विषाद से, दया, पूर्व प्रीति से ही
किसी भी बहाने से तो याद किया कीजिए। 'झरना'

उस समय दशा बड़ी विचित्र होती है—

"वाणी मस्त हुई अपने में उससे कुछ न कहा जाता
गद्गद् कण्ठ स्वयं सुनता है, जो कुछ है वह कह जाता।"

और प्रेमी आत्म-विस्मृत पूछ उठता है—

'जीवन-धन! यह आज हुआ क्या, बतलाओ मत मौन रहो।
बाह्य वियोग, मिलन या मन का, इसका कारण कौन कहो॥"

यही प्रेम बढ़ते-बढ़ते आवेग-पूर्ण हो जाता है और प्रेमी एक साथ चीत्कार कर उठता है—

चमकूँगा धूलि-कणों में
सौरभ हो उड़ जाऊँगा;
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो
ग्रह-पथ में टकराऊँगा!

परन्तु इस प्रेम में आत्म-निषेध की भावना सदैव रहती है—कभी-कभी प्रेमी अपनी असफलताओं को भी सफलता समझ लेता है और प्रेम-पात्र की करुणा में ही अपूर्व आनन्द का अनुभव कर निकलता है—

औरों के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुःख नहीं
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाय कहीं।
निर्दय होकर अपने प्रति, अपने को तुमको सौंप दिया
प्रेम नहीं करुणा करने को, क्षण भर तुमने समय दिया।

आगे चल कर यह प्रेम लौकिक सीमा छोड़कर अलौकिक—दिव्य हो जाता है। यह प्रसादजी का उद्देश्य प्रारम्भ में ही था—

इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रांत-भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं!!'

प्रसाद के इस दिव्य-प्रेम के विषय में समालोचकों की दो सम्मतियाँ हैं।

[illegible]

दूसरों की धारणा है कि वे ज्ञात से अज्ञात की ओर गए। वास्तव में कवि ने राम-कृष्ण आदि की भक्ति-विषयक रचनायें भी की थीं परन्तु प्राधान्य उनमें रहस्यात्मक-भावनाओं का ही रहा; उनकी वृत्ति अज्ञात में ही अधिक रमी।

देखिए कवि को उस प्रियतम की झाँकी पहली बार किस प्रकार से हुई—

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अञ्चल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए।

इसी प्रकार एक बार आँख खोल देखो तो चन्द्रालोक से

रञ्जित कोमल बादल नभ में छागए
जिस पर पवन सहारे तुम हो आ रहे।

धीरे-धीरे यह नशा इतना व्यापक हो जाता है कि कवि को संसार में सर्वत्र ही उस अपूर्व रूप के दर्शन होने लगते हैं—

जल-थल मारुत व्योम में छाया है सब ओर
खोज-खोज कर खोगई मैं पागल प्रेम-विभोर।

कवि बार-बार समझने का प्रयत्न करता है, आखिर यह सब वैभव किसका है—

"महानील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह नक्षत्र और विद्युत कण
किसका करते-से संधान!
× × ×
छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए।
× × ×

सिर नीचाकर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ ?

परन्तु अन्त में वह यहाँ कह कर चुप रह जाता है।

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो, क्या हो, इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट हे विश्वदेव तुम
कुछ हो ऐसा होता भान !"

एक समय था जब आत्मा और परमात्मा सम्बद्ध थे—एकाकार थे। अब दोनों पृथक हैं परन्तु आत्मा को उस महामिलन का पूर्ण ज्ञान है—वह कहता है—

यह सब स्फुलिंग हैं मेरी
उस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं अब भी
मेरे उस महामिलन के।

कहीं कहीं अद्वैतवाद अधिक स्पष्ट हो जाता है—

सकल निधियों का वह आधार
प्रमाता सकल विश्व का सत्य
लिए सब अपने बैठा पास
उसे आवश्यकता ही नहीं।

परन्तु वास्तव में उनमें द्वैत भावना का ही परिचय अधिकतर ता है उनके उद्गार भक्ति विषयक ही प्रायः होते हैं। कवि की न्य, विनय, रूपदर्शन, समर्पण आदि की भावनाओं में भक्ति का ही य है।

'प्रार्थना अन्तर की मेरी, जन्म हो निरखूँ नव सौन्दर्य,
यही जन्मान्तर की हो शक्ति, मिले दुर्दिन में जीवन तृप्ति।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रसादजी में प्रेम नामक मनोवृत्ति की पूर्ण व्यञ्जना हुई है—उसके सभी रूपों को अपनाया है। पं० रामशंकर शुक्ल के शब्दों में 'यह प्रेम अलौकिक आलम्बन पर आधार ग्रहण कर भक्ति में परिवर्तित हो जाता और लौकिक आलम्बन पर स्थित हो रतिभाव के अनुकूल पड़ता हुआ चलता है।' प्रसादजी की प्रेम-व्यञ्जना में एक अपूर्व उन्माद और क्रन्दन है—उसमें एक ज्वालामुखी जलता है—उसमें एक कसक है, वेदना का तीव्र दर्शन है। प्रसादजी की भावुकता व्यापक है वह संसार को अपना सहभागी समझती है—

धरणी दुख माँग रही थी
आकाश छीनता सुख को
अपने को देकर उनको
मैं देख रहा उस मुख को।

परन्तु यह वेदना प्रेम की मीठी वेदना है, निराशा की कठोर यंत्रणा नहीं। घोर मानसिक व्यथा सहने पर भी कवि आश्वासन देता है—

"पड़ रहे पावन प्रेम फुहार, जलन कुछ कुछ है मीठी पीर
सम्हाले चल कितनी है दूर, प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर!

क्योंकि उसे पूर्ण आशा है कि—

'चेतना लहर न उठेगी
जीवन समुद्र थिर होगा,
सन्ध्या हो सर्ग प्रलय की
विच्छेद मिलन फिर होगा।

और इसीलिए वे प्रेम की मङ्गलकारी शक्ति में विश्वास करते हुए कहते हैं कि—

घने प्रेम तरु तले
बैठ छाँह लो भव-आतप से तापित और जले।

छाया है विश्राम की, श्रद्धा सरिता कूल।
सिंची आँसुओं से मृदुल है पराग मय धूल !

प्रसादजी और प्रकृति

आरम्भ में यही प्रेम-तत्व प्रसादजी को प्रकृति की ओर ले गया था— और फिर श्री नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "प्रकृति के द्वारा प्रेम और प्रेम के द्वारा प्रकृति पर उनकी अधिकाधिक दृष्टि पड़ती गयी। × × × साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्होंने ही सर्व प्रथम उदय होते हुए तारों और खिलती हुई कलियों के सौन्दर्य को देखा और पहचाना।" यह पहिला कवि था जिसने बढ़ती हुई भौतिकता पर सर्व प्रथम असन्तोष प्रकट किया था और प्रकृति के वैभव की ओर संकेत किया था।

नील नभ में शोभित विस्तार:
प्रकृति है सुन्दर परम उदार।
नर-हृदय, परिमित,पूरित स्वार्थ;
बात जँचती कुछ नहीं यथार्थ।

प्रसादजी प्रकृति के प्रति सदैव एक तीव्र आकर्षण का अनुभव करते रहे उन्होंने प्रकृति का जड़ और निर्जीव सौन्दर्य कभी नहीं देखा—उन्होंने उसके अन्तर में एक सजीवता का अनुभव किया है और उसके स्पन्दनों से अपने हृदय की धड़कन का स्वर मिलाया है। प्रकृति के चन्द्रिका-स्नात, रा रञ्जित रूप को देखकर कवि उन्मत्त हो जाता है—और उसका वर्णन कर करते आत्म-विभोर हो उठता है। कुछ वर्णन देखिए। प्रकृति का हँसता हु चित्र देते हुए, उसके शब्द स्वयं ही किस प्रकार हँसने लगते हैं।

उषा सुनहले तीर बरसती, जयलक्ष्मी-सी उदित हुई;
उधर पराजित काल-रात्रि भी, जल में अन्तर्निहित हुई !
वह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का, आज लगा हँसने फिर से;
वर्षा बीती, हुआ सृष्टि में शरद-विकास नया सिर से।

र कोमल आलोक बिखरता, हिम संसृति पर भर अनुराग!
त सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिंग-पराग!!

× × × ×

त्र निमीलन करती मानों, प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने।
लधि-लहरियों की अँगड़ाई, बार बार जाती सोने!!
सिन्धु-सेज पर धरा-वधू अब, तनिक संकुचित बैठी-सी;
लय-निशा की हलचल-स्मृति में, मान किए सी ऐंठी-सी!

काम के प्रभाव से मानव-जगत ही नहीं प्राकृतिक जगत भी आकुलित उठता है। कवि कहता है—

जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी? सच कहना!!

अथवा—

सुरबाला पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अञ्चल व्यजन बना
धरणी का, दो-दो साथ हुए।

उनकी प्रकृति-विषयक अनुभूति कितनी प्रखर है इसका एक उदाहरण लीजिए—कामायनी में मनु रात्रि से कहते हैं—

किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी-सी साँस
यों समीर मिस हाँफ रही-सी
चली जा रही किसके पास!

साँय-साँय करती हुई नीरव रात्रि का वर्णन कितना सच्चा और भावपूर्ण उतरा है। प्रसादजी के प्रकृति-चित्रों में मधु और माधुरी का स्रोत बह रहा है। उनमें सोना चाँदी, गुलाली और नीलिमा की अपूर्व छटा है। उनके

चित्र मुसकराते नहीं, हँसते हैं—उनमें सभी में एक आकुल कम्पन है।

मधु बरसती विधु-किरन है काँपती सुकुमार।

उन्होंने यद्यपि प्रकृति के सुन्दर रूप का ही अंकन अधिक किया है—परन्तु उनका सुन्दर विराट भी है। उनके चित्रों में विस्तार है, व्यापकता है और गौरव-गरिमा की भावना है। देखिए प्रलय का दृश्य,

लहरें व्योम चूमने उठतीं
चपलाएँ असंख्य नचतीं
गरल जलद की खड़ी झड़ी में
बूँद निज संसृति रचतीं।
चपलाएँ उस जलधि-विश्व में
स्वयं चमत्कृत होती थीं
ज्यों विराट वाड़व-ज्वालाएँ
खंड खंड हो रोती थीं।

प्रसादजी की रहस्य-भावना कभी-कभी प्रकृति में प्रियतम का प्रतिबिम्ब भी देखकर मग्न हो जाया करती है। उसे अनुभव होता है।

'छायानट छवि-परदे में
सम्मोहन बीन बजाता
सन्ध्या-कुहुकिन-अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता।

सारांश यह है कि प्रसादजी ने "प्राकृतिक वस्तु का प्रेम तत्व से सम्मि श्रण करके, प्रकृति पुरुष का संयोग का मंथन कराया है और प्रकृति विस्तृत विभिन्नता को प्रेम-तत्व से सन्निहित करके देखा है। उनके प्रारम्भि प्रकृति चित्र सांकेतिक अधिक होते थे। अतः उनका तो इतना महत्व न परन्तु जहाँ इन दोनों का (प्राकृतिक वस्तु और प्रेम तत्व का उचित स मन्वय हुआ है) वहाँ प्रसादजी का काव्य अत्यन्त मानवीय और उ हो उठा है।"

कवि ने प्रकृति का साधारण रूप में कभी वर्णन नहीं किया है—उ

हृदय देश उसे मानवी भावनाओं से आकुलित अनुभव करता रहा है। हाँ, प्रकृति का आपने अपनी कल्पना सामग्री के लिए उपयोग अवश्य किया है प्रकृति प्रसादजी के अलंकार उपकरणों की अक्षय निधि है। पुष्पों की पंखड़ियों के सुकुमार वंदन, पुष्करिणी के कमल दल की लावण्यपूर्ण पंखड़ियाँ पक्षियों के विविध रंगीन पंख, उषा की स्मित अरुणिमा आदि प्राकृतिक रमणीय उपादान आपके अप्रस्तुत विधान के साधक होते हैं। आपके मानदंड की परिधि का विस्तार इतना अधिक होता है कि प्राकृतिक रमणीय दृश्यों में से उपमा की प्रतिष्ठा के लिए सामग्री प्रस्तुत करते समय आपको कंजूसी नहीं करनी पड़ती। एक-एक प्रसंग-प्राप्त रूप के लिए अनेक रमणीय अप्रस्तुत आकर खड़े हो जाते हैं। कामायनी की श्रद्धा के रूप-वर्णन में प्राकृतिक वैभव का विलास है; उसके एक-एक सौन्दर्यविधान के वर्णन के लिए कवि प्रकृति का राशि-राशि रूप-विभव एकत्रित कर देता है। श्रद्धा की मुसकान माधुरी देखिये—

और उस मुख पर वह मुसकान !
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम !!

कवि का विलास कितना मादक है। अमूर्त भावनाओं की व्यंजना के लिए प्रसादजी के पास प्राकृतिक उपकरणों का अक्षय भण्डार है। देखिये विषाद का चित्रण आपने किस प्रकार प्राकृतिक उपमाओं के सहारे किया है—

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में॥
अखिल विश्व के कोलाहल से, दूर सुदूर निभृत निर्जन में।
गोधूली के मलिनाञ्चल में, कौन जंगली बैठा वन में॥

यही प्रेमतत्व जीवन के कठोर आघातों से विरक्ति का भाव धारण करता गया और कवि 'शून्य हृदय में प्रेम-जलद-माला कब फिर घिर आवेगी' कहता कहता एक साथ पुकार उठा 'सकल कामना स्रोत लीन हो पूर्ण विरति कब पावेगी।' यह विरक्ति की भावना कवि के आशावाद में किसी प्रकार का असामञ्जस्य उत्पन्न नहीं करती। ऐसे क्षण मनुष्य के जीवन में सदैव आया करते हैं जब वह बिम्बसार की भाँति सोच उठता है—

चञ्चल सूर्य, चन्द्र है चञ्चल,
चपल सभी ग्रह तारा हैं।
चञ्चल अनिल, अनल जल थल सब,
चञ्चल जैसे पारा हैं।
जगत-प्रगति से, अपने चञ्चल
मन की चञ्चल लीला है।
प्रतिक्षण प्रकृति चञ्चला जैसी
यह परिवर्तनशीला है।

× × × ×

क्षणिक सुखों को स्थायी कहना,
दुःख मूल यह भूल महा।
चञ्चल मानव क्यों भूला तू
इस पानी में सार कहाँ ?

मुग्ध मधुर बालक के मुख पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस बूंद भर लाती है।।
निष्ठुर आदि सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से।
मानव का महत्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।।

यही जहाँ तक मैं समझ सका हूँ प्रसादजी के दर्शन का सारतत्व है और उन्हें यह करुणा और विश्व प्रेम की भावना कदाचित् बौद्ध दर्शन के मनन से प्राप्त हुई है। मैंने अभी संकेत किया कि प्रसादजी दार्शनिक कवि हैं। यह इसीलिए नहीं कि उनका अपना एक दर्शन विशेष है। परन्तु इसीलिए कि वे विचार-प्रधान कवि हैं। जीवन के गहनतम विचार उनकी रचनाओं में गुम्फित रहते हैं। उनकी कामायनी में तो इसका परम विकास मिलता है। वास्तव में महाकवियों की गौरव-कसौटी उनकी भाषा, उनकी अलंकरण-सामग्री, और उनकी कोरी भावुकता नहीं, वरन् जीवन के चिरन्तन संघर्षों और राग विरागों को पहिचानने और सुलझाने की उनकी शक्ति ही है। इसी कारण वाल्मीकि शेक्सपीयर, गेटे, तुलसी, टैगोर आदि आदि विश्व-वन्द्य महाकवि हैं। प्रसादजी ने जीवन के इन विश्वव्यापी संघर्षों को समझा है, उनकी गहन विवेचना की है। विश्व क्या है इसका गम्भीर विवेचन मनु से सुनिये—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंग स्थल है;
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।

वे कितने ऐसे होते हैं,
जो केवल साधन बनते हैं
आरम्भ और परिणामों के
सम्बन्ध सूत्र से बुनते हैं।

किन्तु जीवन कितना निरुपाय ! लिया है देख नहीं सन्देह !
निराशा है जिसका परिणाम, सफलता का वह कल्पित गेह !

तो श्रद्धा की शीतल वाग्धारा कातर-विश्व को आश्वासन देती है।

"जिसे तुम समझे थे अभिशाप

× ×

विषमता की पीड़ा से ग्रस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान;
यही सुख-दुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

× ×

'दुःख नहीं केवल जीवन सत्य, करुण यह क्षण क्षणिक दीन अवसाद;
तरल आकांक्षा से है भरा, सो रहा आशा का आह्लाद।

आगे चलकर श्रद्धा ने जो भाव, कर्म, और ज्ञान तीनों क्षेत्रों की भाव-पूर्ण व्याख्या की है वह दिव्य है, अभूतपूर्व है। वह प्रसादजी को एक दम विश्व-कवियों में स्थान दिला देती है। इन मनस्तत्त्वों का इतना कवित्व पूर्ण वर्णन संसार-साहित्य में कदाचित् ही कहीं मिले। यहाँ दर्शन और कविता का सामञ्जस्य पूर्ण रूप से हुआ है। कवि की सांकेतिक काव्य सामग्री और मूर्ति-विधायिनी कल्पना ने अरूप में एक साथ दिव्य रूप भर दिया है।

देखिये आपके सन्मुख वहा भाव-क्षेत्र दिखाई पड़ रहा है—

'वह देखो रागारुण है जो, ऊषा के कन्दुक-सा सुन्दर;
छायामय कमनीय कलेवर, भावमयी प्रतिमा का मन्दिर।'
'शब्द, स्पर्श, रस रूप गन्ध की, पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ;
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों रूपवती रंगीन तितलियाँ।'

× × × ×

'घूम रही है यहाँ चतुर्दिक, चल चित्रों-सी संसृति छाया;
जिस आलोक विन्दु को घेरे, वह बैठी मुस्क्याती माया।
भाव चक्र यह चला रहा है, [illegible] रथ-नाभि घूमता;
नवरस भरी अराएँ अविरल, चक्रवाल को [illegible]

यहाँ मनोमय विश्व कर रहा, रागारुण चेतन उपासना;
माया-राज्य ! यही परिपाटी, पाश बिछाकर जीव फाँसना।

× × × ×

भाव भूमिका इसी लोक की, जननी है सब पाप-पुण्य की;
ढलते सब स्वभाव प्रतिकृति बन, गल ज्वाला से मधुर ताप की।

एक झाँकी श्यामल कर्म लोक की देख लीजिए—

"मनु, यह श्यामल कर्मलोक है, धुँधला कुछ कुछ अंधकार-सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह देश मलिन है धूमधार-सा।

× × × ×

श्रममय कोलाहल, पीड़न-मय, विकल प्रवर्त्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है, प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

× × × ×

नियति चलाती कर्म-चक्र यह, तृष्णा जनित ममत्व वासना;
पाणिपाद-मय पंच-भूत की, यहाँ हो रही है उपासना।
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता, कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही, मतवाला यह सब समाज है।

उपरोक्त वर्णन में कवि ने आधुनिक संसार के संघर्ष की सजीव व्याख्या की है जो स्वयं बोल रही है।

आगे ज्ञानलोक की आभा है—

"प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है, सुख-दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है, बुद्धि चक्र जिसमें न दीनता।
अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश करते ये अणु तर्क युक्ति से;
ये निस्संग, किन्तु कर लेते, कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से।

× × × ×

अपना परिमित पात्र लिये ये, बूँद-बूँद वाले निर्झर से,
माँग रहे हैं जीवन का रस, बैठ यहाँ पर अजर-अमर से।

× × × ×

यहाँ अछूत रहा जीवन रस, छूओ मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा, तृपा ! मृषा, वंचित होने दो।

अन्त में इस त्रिपुर का दाह श्रद्धा की स्मित ज्वाला के द्वारा कराकर कवि इस विषम समस्या को हल कर देता है। वास्तव में मनु और श्रद्धा की इस कहानी में मानव जीवन के मनस्तत्व की विवेचना पूर्ण रूप से हुई है और श्री नन्ददुलारे के शब्दों में 'मानस का ऐसा वास्तविक विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों बाद हुआ है।'

क्षेत्र-विस्तार

जो कुछ अब तक प्रेम, प्रकृति और दर्शन के विषय में कहा गया है, उससे प्रसादजी की भावुकता पर थोड़ा बहुत प्रकाश अवश्य पड़ा होगा। परन्तु हमारे कवि की भावुकता इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती। उनका क्षेत्र विस्तृत है। यहाँ अधिक न कह कर इस विषय के दो तीन उदाहरण ही देना पर्याप्त होगा। कामायनी में एकाध स्थान पर वात्सल्य की भी बड़ी मधुर व्यञ्जना हुई है—

"माँ—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी,
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी;
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गईं,
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी !

× × ×

"मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं;
पके फलों से पेट भरा है, नींद नहीं खुलने वाली।"
श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषाद से भरी रही।

एक उदाहरण कवि की देशभक्ति भावना का और देखकर इस प्रसङ्ग को समाप्त करता हूँ। प्रसादजी भारतवर्ष के अतीत गौरव के पुजारी थे। उनकी रचनाओं में जातीयता और देश प्रेम की भावनायें ओत प्रोत मिलती हैं उनकी आत्मा अपने मात्र भूमि के ...

"हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनन्दन किया, और पहनाया हीरक हार!
जगे हम लगे जगाने विश्व, लोक में फैला फिर आलोक
व्योम तम पुञ्ज हुआ तब नाश, अखिल संसृति हो उठी अशोक!
विमल वाणी ने वीणा ली, कमल-कोमल कर में सप्रीत
सप्त स्वर सप्त सिंधु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम सङ्गीत!

× × ×

वही है रक्त वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान,
वही है शांति वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-संतान
जिएँ तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे, यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष?

कला

प्रसादजी जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ स्वयं हैं, वे मौलिक कलाकार हैं, दूसरों के निर्दिष्ट पथ पर चलना उन्हें कभी पसन्द नहीं आया और आरम्भ से उन्होंने अपनी सृजनात्मक कल्पना, अन्तर्ग्राहिणी भावुकता, और रंगीन दृष्टि द्वारा अपना एक नवीन पथ निर्माण किया है। उनकी कला उनकी शैली अपनी ही है। प्रसादजी की कला की अन्य सभी महान कवियों की भाँति सब से प्रमुख विशेषता उनकी चित्रमयता है। उनकी कल्पना इतनी रंगीन एवं अन्वीक्षणी-शक्ति इतनी सजग होती है कि प्रत्येक भावना प्रत्येक वस्तु का चित्र उनके मन पर स्पष्ट रूप से उतर आता है जिसको वे अपनी कुशल व्यञ्जना-शक्ति और चित्र भाषा की सहायता से ज्यों का त्यों चित्रित कर देते हैं। प्रसादजी के काव्य में अनेकों चित्र भरे पड़े हैं। उनकी रेखाएँ पुष्ट और वर्णों के विकास भास्वर हैं। साथ ही "उनमें वैज्ञानिक सूक्ष्मता भी सर्वत्र मिलेगी—देखिए एक चित्र बढ़ती हुई अंधेरी का—

वरुण व्यस्त थे घनी कालिमा
स्तर स्तर जमती पीन हुई।

उनके मानवीय चित्रों में भी यही बात है। आदि पुरुष मनु का पौरुष-

मय चित्र लीजिये—

अवयव की दृढ़ माँस पेशियाँ, ऊर्जस्वित था वीर्य अपार,
स्फीत शिरायें; स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें संचार।
चिन्ता कातर वदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत-प्रोत,
उधर उपेक्षामय यौवन का बहता, भीतर मधुमय स्रोत।

आगे श्रद्धा के मुखमण्डल की आभा है—

आह! वह मुख। पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि-मण्डल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम

यही श्रद्धा गर्भालसा होकर कैसी हो जाती है—

'केतकी-गर्भ सा पीला मुँह,
आँखों में आलस भरा स्नेह;
कुछ कृशता नई लजीली थी
कंपित लतिका-सी लिये देह!
मातृत्व बोझ से झुके हुये
बँध रहे पयोधर पीन आज;
कोमल काले ऊनों की नव
पट्टिका बनाती रुचिर साज।

प्रसाद जी की कल्पना साधारण-से-साधारण वस्तु का अंक
कितने वैभव के साथ कर देती है इसका एक उदाहरण देखिये—श्र
तकली घुमाती हुई काली ऊन की पट्टी बना रही है—कवि उसका वर
करता है—

'सोने की सिकता में मानो
कालिन्दी बहती भर उसास;
स्वर्गङ्गा में इन्दीवर की
या एक पंक्ति कर रही हास।

इसी प्रसंग में एक छवि इड़ा के सांकेतिक चित्र को भी अवलोकन कर लीजिये। कवि की सांकेतिक पदयोजना द्वारा इड़ा का चित्र अत्यन्त सजीव और मूर्तिमान हो गया है—यहाँ पर उसकी कल्पना की मूर्तिविधायिनी शक्ति की क्रीड़ा देखिये—

बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल
वह विश्व-मुकुट-सा उज्ज्वल तम शशि-खंड सदृश था स्पष्ट भाल,
दो पद्म पलाश चषक-से दृग देते अनुराग विराग ढाल,
गुञ्जरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान,
वक्षस्थल एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान,
था एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस-सार लिये,
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिए,
त्रिवली थी त्रिगुण तरङ्ग मयी, आलोक वसन लिपटा अराल,
चरणों में थी गति भरी ताल।

अमूर्त भावनाओं का भी कुशल कलाकार ने स्थान-स्थान पर बड़ा सजीव अंकन किया है। लज्जा का वर्णन कवि करता है।

वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुये;
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुये।

× × ×

किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग-कण राग भरे;
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधु-धार ढरे?

इस प्रकार की (myth Making) मूर्ति-निर्माण-विधि का प्रयोग कवि ने स्थान-स्थान पर किया है। झरना में 'विषाद' का चित्र भी ऐसा ही है। यह विशेषता अंग्रेजी कवि शैली में प्रमुख रूप से पाई जाती है। उन्होंने

भी ऐसे अनेकों चित्र खीचे हैं। शीतकाल का वर्णन उनका ऐसा ही है—

For winter came : The wind was his whip;
One choppy finger was on his lip.

× × × ×

इनमें भाषा की व्यञ्जनाशक्ति और मूर्तिमत्ता की सहायता रहती है निम्नलिखित पंक्तियों में मूर्त चित्र द्वारा सौन्दर्य की विभूतियों का वर्णन व्यंग्य है।

तुम कनक किरन के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस कन ढरते—
हे लाज भरे सौन्दर्य्य बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल ध्वनि की गुंजारों में,
मधु-सरिता-सी यह हँसी तरल,
अपनी पीछे रहते हो क्यों ?

इन पूर्ण चित्रों के अतिरिक्त प्रसादजी के काव्यों में रेखा-चित्र अथवा शब्द-चित्र भी अनेकों बिखरे मिलेंगे। इनमें चित्र व्यक्त नहीं व्यंग्य होंगे अर्थात् शब्दों द्वारा उसका अङ्कन तो नहीं होगा परन्तु फिर भी वस्तु का चित्र मन पर स्पष्ट उतर आएगा। दो एक का अवलोकन कीजिए—

'—निर्जन गोधूली-प्रान्तर में, खोले पर्ण-कुटी के द्वार।
दीप जलाये बैठे थे तुम, किए प्रतीक्षा पर अधिकार।

यहाँ 'दीप जलाये बैठे थे'—और 'किए प्रतीक्षा पर अधिकार' इन दो ांशों द्वारा पाठकों के मन पर सुनसान बीहड़ में बैठे हुए व्याकुल चित्त नु बाहर से शांत और संयत वियोग का चित्र साफ प्रतिबिम्बित ाता है।

२—'कालिमा धुलने लगी घुलने लगा आलोक' इस एक रेखा से प्रसादजी ने हटते हुए बादलों और निखरती हुई चाँदनी का कितना स्पष्ट चित्र खींच दिया है।

एक शब्द-चित्र (One word-Picture) भी उनके काव्य में स्थान-स्थान पर जड़े हुए मिलेंगे। प्रलय की आँधियों का एक चित्र देखें—

अरी आंधियो ! ओ बिजली की
दिवा-रात्रि ! तेरा नर्तन !

बिजली की दिवा-रात्रि ! चित्रोपमता की पराकाष्ठा है।

सचित्र विशेषण इस युग की काव्य-कला की एक विशेषता है। कविवर पन्त में इस कला का चरम विकास मिलता है। प्रसादजी के विशेषण भी बड़े ध्वनिमय, व्यञ्जक और सचित्र हैं। उनमें भाषा की शक्ति और कल्पना का संयम मिलता है। चिन्ता के कुछ विशेषण लीजिए—

ओ चिन्ता की पहिली रेखा,
अरे विश्व-वन की व्याली,
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण
प्रथम कम्प-सी मतवाली,
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा !

× ×

अरी व्याधि की सूत्र-धारिणी !

× ×

नक्षत्र के लिए कवि ने 'तम के सुन्दरतम रहस्य !' 'अनन्त की गणना' आदि बड़े भव्य विशेषण दिए हैं। इसी प्रकार रजनी का इन्द्रजाल-जननी !' विशेषण कितना व्यञ्जनापूर्ण है। ये विशेषण कहां तो चित्रमय होते हैं, जैसे बिजली की दिवारात्रि !' कहीं कल्पना प्रधान, जैसे उपयुक्त समस्त उदाहरणों में—और कहीं भावुकता की विभूति होते हैं—जैसे मनु श्रद्धा से कह उठते हैं '(कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज !') मनु का हृदय एकाकी-

प्रसादजी के छन्द

वाक्य भाव की भाषा है तो छन्द काव्य की भाषा है। प्रसाद जैसा कवि केवल भावोद्वेगों को उद्गार करने के लिए नहीं, वह रस अथवा सौष्ठव मात्र उपस्थित नहीं करना चाहता है, वह संस्कृति और सौन्दर्य अथवा संस्कृत सौन्दर्य को झांकने वाला है। इसने उसे देख लिया है, इसीलिए एक भावुक भक्त की भाँति सौन्दर्य के आवाहन के सत्कार के प्रत्येक बेर को शबरी की भांति चख कर सुरुचि के साथ नहीं भयकातरता किन्तु आत्म-विश्वास के साथ रखता है। उन्होंने अपना ज्ञान और पाण्डित्य नहीं प्रकट किया। विविध छन्दों का उन्होंने उपयोग किया है, किन्तु इस बात पर एक बार अविश्वास किया जा सकता है कि उन्होंने छन्द-शास्त्र को कभी महत्त्व दिया था उसका यथाविधि अध्ययन भी किया। यह इसलिए नहीं कि उन्होंने जो छन्द लिखे वह शास्त्रानुकूल नहीं वे सभी शास्त्र प्रतिपादित हैं; बस उनमें शास्त्रीयता नहीं मिलती। प्रसाद सहज स्रष्टा प्रतीत होते हैं—उन्होंने जितने भी छन्द लिखे हैं उनमें सबमें उन्होंने काव्य के सौन्दर्य की पात्रता मात्र देखी है। इस पात्रता के लिए स्वर-संगीत एक आवश्यक तत्व उन्होंने समझा है। स्वर-संगीत का अर्थ शब्दों की सुगीतिता नहीं, जैसी पन्त में है। इसका अर्थ कोमल सुचारु वर्णों का चेतन प्रयोग भी नहीं, न इसका अर्थ संगीत की लय-गति है। इसका अर्थ है अक्षरों के स्वरों का एक दूसरे में द्रवित होते चले जाना। इस प्रकार छन्द में द्रवित स्वरों का प्रवाह है जिससे एक संगीत स्वयं प्रवाहित होने लगता है—इसी के अनुकूल उन्होंने छन्दों का चयन किया है।

'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया
मेरी कुटिया में राज भवन मन भाया'—

साकेत के इन चरणों में संगीत है किन्तु इन पंक्तियों को देखिए:—

तू बढ़ जाता अरे अकिंचन, छोड़ करुण स्वर अपना
सोने वाले जाकर देखें, अपने सुख का सपना

—लहर पृ० ५१

इनमें स्वर-संगीत है। छन्द के स्वर बढ़े बढ़े एक चरण से दूसरे में अपनी लय को तिरोहित कर आगे को उद्बुद्ध करते हैं। दोनों के संगीत का सिद्धान्त अलग-अलग है। यह स्वर-संगीत प्रसादजी के प्रत्येक काव्य के अन्तर में प्रवाहित है। यह शब्दों के कारण नहीं वरन् छन्दों के स्वभाव के कारण है।

उन्होंने छन्द कितने ही प्रकार के लिखे हैं, 'झरना' जैसे संग्रह में ४८ छोटी-छोटी कविताएँ हैं; और प्राय: प्रत्येक कविता एक नये छन्द में लिखी गयी है—किन्तु नया छन्द लिखा गया इस ज्ञान से कि यह भिन्न जाति का हो और बस; उन्होंने यह कभी नहीं जाना कि कौनसा छन्द लिखा जा रहा है। इसका फल यह हुआ कि उन्होंने स्वतन्त्रता पूर्वक शास्त्र निर्णीत विभिन्न छन्दों को मिलाकर अपने लिए एक रचना की है।

'झरना' ये झरना नाम की पहली कविता का एक छन्द शास्त्र-प्रथा विरुद्ध छः चरणों का है—

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी
न है उत्पात, छटा है छहरी
मनोहर झरना
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।

प्रथम दो चरण १७-१७ मात्रा के हैं। तीसरा ९ मात्राओं का है। चौथा फिर १७ मात्राओं का है। पाँचवां भी ऐसा ही है। छठा तो टेक की भांति

सबसे ऊपर के चरण की दुहरावट है। १७ मात्राओं वाले चरणों में ८ और ९ पर यति है किन्तु यह यति का नियम व्यापक नहीं। कवि ने इसे आवश्यक नहीं समझा। हाँ, जहाँ यह रहा है वहाँ चरण अपनी गति में सावधान और सुन्दर रहा है। अन्तिम यतिकाल की मात्रा का चरण तीसरा है। इस प्रकार छन्द में संगीत पैदा किया गया है। प्राचीन पिंगलों में ऐसा छन्द नहीं मिलेगा। कवि ने अपनी शक्ति-शाली रचना से प्राचीन छन्द परिपाटी की जड़ में अपनी दृष्टि डाल दी है। वे इसी कारण नव-छंद रचना के मूलाधार हुए। काव्य और भाव का ही नया रूप उन्होंने नहीं उतारा किन्तु छंद का भी नया रूप उपस्थित किया। स्वर-संगीत वाला कवि तुक को गर्हित नहीं समझता तो उसके लिए प्राण भी नहीं देता। प्रसादजी तुकों की अवहेलना नहीं करते उन्हें केवल और सिद्धान्त पर लाने के पक्ष में है। वे उन्हें आवश्यक नहीं समझते और यही दिखलाने के लिए उन्होंने कई रचनाएँ तुकविहीन कीं—

वीणे ! पञ्चम स्वर में बजकर मधुर मधु
बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
उस वर्षा में भीगे जाने से भला
लौट चला आवे प्रियतम, इस भवन में।

किन्तु छन्द-जीवन को ललित बनाने के लिए उसे उपयोगी समझा है और जब वे एक स्थिर महाकाव्य लिखने बैठे तो उसमें किसी छन्द को अतुक नहीं रख सके; यद्यपि तुक का नियम अपनी रुचि के अनुकूल ही कहीं भले ही रखा हो। तुकहीन रचनाएँ दो प्रकार की हैं एक तो ऊपर जैसी हिन्दी की शैली की, जिसमें छन्द की गति निश्चित मात्रा के मार्ग से हुई है, अथवा इसी के थोड़े हेर-फेर से विशेष संगीताधीन किये हुए छन्द के द्वारा जैसा झरना के पहले छन्द में मिलता है। दूसरी शैली में कवि ने मात्रा-विधान को स्थान नहीं रखा। भावों की माप के अनुकूल नादस्फोट और लय-विराम के सिद्धान्त पर—

जैसे—'प्रलय की छाया' में—

"थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की
सन्ध्या आज है भी तो धूसर क्षितिज में।
और उस दिन तो;
निर्जन की जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ।

× × × ×

आँखें खुलीं,
देखा मैंने चरणों में लोटती विश्व की विभव—राशि,
और प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी वह एक सन्ध्या थी।"

इसमें किसी चरण की मात्रा निश्चित नहीं। प्रत्येक चरण प्रायः भिन्न मात्रा का है, जहाँ दो चरणों में मात्रा सन्तुलन है, वह इसलिए है कि उन दोनों में भाव सन्तुलन भी है। भाव के अनुकूल उसके विस्तार के साथ छन्द के चरणों का नियमन हुआ है। इसमें इसके साथ-साथ एक गहरी स्वर-धारा समवेत है। वही नाद-स्फोट और लय विराम से इस काव्य के छन्द को छन्द बनाये हुए है। हम एक स्वर धारा में पढ़ना आरम्भ करते हैं—

आँखें खुलीं—और अन्तिम स्थल पर एक भाव पूर्ण होता है किन्तु लय विराम नहीं। इसलिए स्वर का नाद-स्फोट उसे चरण बनाता है, वह स्वर-धारा किन्तु आगे बढ़ती ही जाती है, 'थी' और 'राशि' पर नाद-स्फोट के बाधाओं को उलंघते-उलंघते न केवल भाव उग्र होते हैं लय भी तीव्र होती है—

और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी—और यह लय विराम आता है। इस प्रकार इस छन्द का विधान हुआ है। इस सब में स्वर-धारा को बाँधे रखने वाला छन्द हिन्दी का 'कवित्त' अथवा 'मनहरण' है। यह कवि ने ऊपर की सबसे पहली दो पंक्तियों से ही प्रकट कर दिया है, और सारा छन्द जिसे हिन्दी में कभी केंचुआ कभी रबड़ छन्द बतलाया गया था, केवल उसी अति-प्रचलित कवित्त की प्रयोग भिन्नता थी। उसी कवित्त के चरणों तथा

सबसे ऊपर के चरण की दुहरावट है। १७ मात्राओं वाले चरणों में = और ६ पर यति है किन्तु यह यति का नियम व्यापक नहीं। कवि ने इसे आवश्यक नहीं समझा। हाँ, जहाँ यह रहा है वहाँ चरण अपनी गति में सावधान और सुन्दर रहा है। अन्तिम यतिकाल की मात्रा का चरण तीसरा है। इस प्रकार छन्द में संगीत पैदा किया गया है। प्राचीन पिंगलों में ऐसा छन्द नहीं मिलेगा। कवि ने अपनी शक्ति-शाली रचना से प्राचीन छन्द परिपाटी की जड़ में अपनी दृष्टि डाल दी है। वे इसी कारण नव-छंद रचना के मूलाधार हुए। काव्य और भाव का ही नया रूप उन्होंने नहीं उतारा किन्तु छंद का भी नया रूप उपस्थित किया। स्वर-संगीत वाला कवि तुक को गर्हित नहीं समझता तो उसके लिए प्राण भी नहीं देता। प्रसादजी तुकों की अवहेलना नहीं करते उन्हें केवल और सिद्धान्त पर लाने के पक्ष में हैं। वे उन्हें आवश्यक नहीं समझते और यही दिखलाने के लिए उन्होंने कई रचनाएँ तुकविहीन कीं—

वीणे! पञ्चम स्वर में बजकर मधुर मधु
बरसा दे तू स्वयं विश्व में आज तो।
उस वर्षा में भीगे जाने से भला
लौट चला आवे प्रियतम, इस भवन में।

किन्तु छन्द-जीवन को ललित बनाने के लिए उसे उपयोगी समझा है और जब वे एक स्थिर महाकाव्य लिखने बैठे तो उसमें किसी छन्द को अतुक नहीं रख सके; यद्यपि तुक का नियम अपनी रुचि के अनुकूल ही कहीं भले ही रखा हो। तुकहीन रचनाएँ दो प्रकार की हैं एक तो ऊपर जैसी हिन्दी की शैली की, जिसमें छन्द की गति निश्चित मात्रा के मार्ग से हुई है, अथवा इसी के थोड़े हेर-फेर से विशेष संगीताधीन किये हुए छन्द के द्वारा जैसा झरना के पहले छन्द में मिलता है। दूसरी शैली में कवि ने मात्रा-विधान को स्थान नहीं रखा। भावों की माप के अनुकूल नादस्फोट और लय-विराम के सिद्धान्त पर—

जैसे—'प्रलय की छाया' में—

"थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की,
सन्ध्या आज है भी तो धूसर क्षितिज में।

और उस दिन तो;

निर्जन की जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ।

× × × ×

आँखें खुलीं,
देखा मैंने चरणों में लोटती विश्व की विभव—राशि,
और प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी वह एक सन्ध्या थी।"

इसमें किसी चरण की मात्रा निश्चित नहीं। प्रत्येक चरण प्रायः भिन्न मात्रा का है, जहाँ दो चरणों में मात्रा सन्तुलन है, वह इसलिए है कि उन दोनों में भाव सन्तुलन भी है। भाव के अनुकूल उसके विस्तार के साथ छन्द के चरणों का नियमन हुआ है। इसमें इसके साथ-साथ एक गहरी स्वर-धारा समवेत है। वही नाद-स्फोट और लय विराम से इस काव्य के छन्द को छन्द बनाये हुए है। हम एक स्वर धारा में पढ़ना आरम्भ करते हैं—

आँखें खुलीं—और अन्तिम स्थल पर एक भाव पूर्ण होता है किन्तु लय विराम नहीं। इसलिए स्वर का नाद-स्फोट उसे चरण बनाता है, वह स्वर-धारा किन्तु आगे बढ़ती ही जाती है, 'थी' और 'राशि' पर नाद-स्फोट; के बाधाओं को उलंघते-उलंघते न केवल भाव उग्र होते हैं लय भी तीव्र होती है—

और ये प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी—और यह लय विराम आता है। इस प्रकार इस छन्द का विधान हुआ है। इस सब में स्वर-धारा को बाँधे रखने वाला छन्द हिन्दी का 'कवित्त' अथवा 'मनहरण' है। यह कवि ने ऊपर की सबसे पहली दो पंक्तियों से ही प्रकट कर दिया है, और सारा छन्द जिसे हिन्दी में कभी केंचुआ कभी रबड़ छन्द बतलाया गया था, केवल उसी अति-प्रचलित कवित्त की प्रयोग भिन्नता थी। उसी कवित्त के चरणों तथा

चरणाङ्गों को भावानुरूप नाद-स्फोटों तथा लय-विरामों से सजाकर नये रूप में उपस्थित कर दिया। इससे कवि की सृजन की मौलिकता का कितना असन्दिग्ध पता मिलता है।

तो जब तक कवि छोटे-छोटे उद्गारों को छोटी-छोटी भाषा में बाँधता रहा उसने ये प्रयोग किये, आगे बढ़ते ही जैसे उसने महाकाव्य की रचना की रूप-रेखा खड़ी की, उसने वे सब प्रयोग करना छोड़ दिया और वह अपने विधान में छन्दों के प्रयोगात्मक महत्त्व को छोड़, सिद्ध रूप को लेकर चलने के लिए प्रस्तुत हुआ। वहाँ भी वह कम स्रष्टा नहीं, किन्तु वहाँ वह इतना गम्भीर हो गया है कि उसके प्रयोगों में जो उतावलापन दीखता है, वह छोड़ दिया है।

कामायनी के छन्द प्रायः ३०—३२ और २४ मात्राओं और इसके १६, १६; १६ १५; १६, १४ वाले भेदों के अन्वावि ही आते हैं— कामायनी का आरम्भ १६—१५ मात्राओं के वीर छन्द से होता है। यह वीर छन्द तो कवि ने रखा है किन्तु १६ का एक चरण और १५ का दूसरा चरण बनाकर साधारणतः जहाँ यति होती वहाँ चरण पूर्ति मान कर 'वीर छन्द' का रूप बदल दिया है। इस प्रथम 'चिन्ता' के अध्याय में 'वीर छन्द' के बीच में 'ककुभ' के समकक्ष १६, १४ के यति पर चरण-पूर्ति वाला छन्द लिखा गया है, जिसके अन्त में दो गुरुओं का नियम नहीं रखा गया है। 'आशा' में भी ऐसे ही छन्दों का प्रयोग है। 'श्रद्धा पटल' में छन्द बदल कर १६—१६ मात्राओं के चरणों के हो जाते हैं। यह 'शृंगार' नामक छन्द है। इसके अन्त में ऽ। होता है।

कौन तुम संसृति-जल निधि तीर
    तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
    प्रभा की धारा से अभिषेक ?

इसमें कहीं-कहीं ऽ। के स्थान पर अन्त में।ऽ भी कर दिया गया है—यथाः

तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।

फिर 'काम' में यह छन्द 'पद पादाकुलक' हो जाता है। यह १६ मात्राओं का छन्द है जिसके अन्त में ऽ होता है।

वासना में रूपमाला छन्द का उपयोग है यह छन्द १४, १० के यति से अन्त में ऽ। के साथ होता है। 'लज्जा' में फिर पद-पादाकुलक है। 'कर्म' 'सार' छन्द के समकक्ष, १६, १२ की यति का नहीं वरन् चरण-पूर्ति का छन्द है।

कर्म सूत्र संकेत सदृश थी
सोम लता तब मनु को;
चढ़ी शिंजिनी सी, खींचा फिर
उसने जीवन-धनु को।

कहीं पर यह १६-१२ का न होकर १४-१४ का भी कर दिया गया है—

कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा;

'ईर्षा' में कवि ने दो विभिन्न छन्दों के चरणों से एक मिश्र छन्द बनाया है—

पल भर की उस चंचलता ने
खो दिया हृदय का स्वाधिकार!

इसमें पहला चरण १६ मात्रा का पदपादाकुलक है और दूसरा १६ का पद्धरि है।

'इड़ा' में गीति-पदों को स्थान दिया गया है, किन्तु वह भी १६ मात्राओं के चरणों का द्वित्व मात्र है। टेक १६ की ही है।

'स्वप्न' में फिर १६—१४ का ककुभ के सदृश एक छन्द है, पर इसमें यति को ही चरण-पूर्ति नहीं माना गया।

'संघर्ष' में रोला या काव्य छन्द है, यह २४ मात्रा ११—१३ की यति से ही होता है। 'निर्वेद' में ककुभ सदृश छन्द है। 'दर्शन' में 'पादाकुलक' है,

१६ मात्रा और अन्त में ऽ। होता है। इसमें गति में दुः चरण रहते हैं। इसमें पहला चरण पूर्ण या प्रसिद्ध छन्द चौपाई है, दूसरे चरण को छन्द यहीं 'रोला' है—जैसे

'श्वास रुद्ध करने वाले दृग'

वहीं 'सं'रल' जैसे

शून्य, पवन बन पंख हमारे—जैसे

छन्दों के चरणों का भी मेल मिला दिया गया है।

'आनन्द' 'सखी' छन्द में है, जो १४ मात्रा का होता है।

इतने छन्दों में यह कामायनी समाप्त की गई है।

सब छन्दों में भावानुरूप है। प्रसाद जी वस्तुतः गीति-काव्य के कवि हैं। 'Lyrics' में जिस प्रकार उद्गारों का सौन्दर्य सुकोमल और करुण कलेवर में प्रकट होता है, वही प्रसाद के छन्दों में भी पात है। 'कामायनी' जैसा महाकाव्य भी इस गीतकाव्य आत्मा से खिल उठा है। वह उसमें भी व्याप्त है। उसमें गीतकाव्य का स्वरूप तो नहीं रहा, आत्मा ही है। इस प्रकार कवि ने गीति-काव्य की ओर भी हिन्दी को आकर्षित किया। प्रसाद जी भारत के सच्चे सपूत थे। उन्होंने काव्य जगत में भावात्मक क्रान्ति भी की और रूपात्मक भी। उन्होंने संस्कृति का बहुत मूल्य रखा है और उनके छन्दों का सुकरत्व भी संस्कृति का परिचय देने वाला तथा भावानुरूप है।

प्रसादजी के गीत

संगीत संसार की दवा है। विश्व की वेदना के लिए, संसार के झंझटों के लिए, स्वयं जीवन की परिस्थितियों की, भाग्य की, विडम्बना के लिए एक मात्र अचूक औषधि है गीत। गीत की तन्मयता में, उसकी काल्पनिक सुधा-माधुरी में, लय के उतार-चढ़ाव

तत्परता में मनुष्य का सारा राग-द्वेष, दुःदैन्य, उसकी असफलता, विकलता, विह्वलता बह जाती है। उस समय प्रत्यक्ष की कठोरता पर कल्पना का आवरण पड़ जाता है, उस राग धारा के प्रवाह में स्वयं दुःख अपनी कसक खोकर मधुमय हो जाता है। गीत में वह अलौकिक आह्लाद मिलता है जो सुख को सुखातिरेक में और दुःख को आनन्द में बदल देता है।

दुःख ही में गीत की उत्पत्ति है। यदि संसार सर्व-सुखी होता तो कवियों की उत्पत्ति शायद ही होती। अपूर्वता, अभाव, वेदना और कविता शायद एक ही भाव की भिन्न स्थितियाँ हैं। वेदना-जात ये गीत भी इतने आनन्ददायी कैसे होते हैं, इसी रहस्य में कविता का सौन्दर्य छिपा है। हमारे जीवन का ध्येय आनन्द है। उसकी प्राप्तिमें जितना सन्तोष-सुख होता है उससे कहीं अधिक उसके अभाव से असन्तोष-दुःख होता है। मनुष्य की महत्ता उसकी चेतना है, उसकी शक्ति चेतनता है, और जब दुःख से, वेदना से, अभाव से चेतना कोर तक उद्वेलित हो उठती है तभी जो चेतना में सर्वोत्तम है उसकी सृष्टि होती है। हम आनन्द का अनुभव उतनी गहराई से नहीं करते; वह चेतना की ऊपरी सतह को स्पन्दित करके ही रह जाता है, परन्तु पीड़ा की

टीस अन्त तक पहुँच कर चेतनामय हो हो उठती है। फिर चेतना और पीड़ा में अन्तर नहीं रह जाता। इसीलिए हृदय की ग्रन्थियाँ दुःख में खुलती हैं

प्रसाद की कविता में वेदना शायद मुख्य गुण नहीं है—इस अर्थ में तो वेदना महादेवी जी की कविता का ही विषय हैं; परन्तु प्रसाद में भी कविता का जन्म वेदना से ही होता है। अवश्य ही वह उसे छोड़कर बड़ी दूर, कल्पना-लोक के आनन्द में विहार करती है; उसमें यदि वास्तविक नहीं तो इन्द्रिय-जगत का काल्पनिक सुख है। उनकी कल्पना में सौन्दर्य, प्रेम और यौवन अपनी पूरी मस्ती में, अपने खिले रंग में चित्रित होते हैं। अभाव की वेदना पीछे रह जाती है। क्षण भर को तो लेखक और पाठक उस सुख का अनुभव करने लगता है जो उन्हीं के शब्दों में, 'अतीन्द्रिय जगत की नक्षत्र-मालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरच्चन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लांघ जाय।' भावना की सीमा जहाँ पीछे रह जाय ऐसे मधुर लोक की निराश खोज के पीछे केवल कल्पना का सहारा है—'शून्य गगन में खोजता जैसे चन्द्र निराश,' परन्तु कवि के कल्पना-गगन में यह शून्यता, रस-हीनता नहीं है। उस काल्पनिक लोक में एक अनुभूत मादकता है, उल्लास है, वैभव है। वहीं पर अनन्त प्रेम है, यौवन है, सौन्दर्य है। कैसा अनुभूति-सुख है इस कल्पना में—

"तुम कनक किरण के अन्तराल में,
लुक छिप कर चलते हो क्यों ?
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के धन, रस कन ढरते।
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो,
मौन हुए रहते हो क्यों ?"

यौवन के उन्माद का, उसके असंयत रस-प्रवाह का एक और भी मानस-चित्र है—

"आज इस यौवन के माधवी-कुञ्ज में कोकिल बोल रहा
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेमालाप
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बन्धन खोल रहा।"

परन्तु यह जीवन-मधु पृथ्वी पर नहीं मिलता। असफल प्रेम अतृप्त यौवन और अप्राप्त सौन्दर्य—इस अभाव से खिन्न होकर भी कवि की उत्कट इच्छा होती है—

"सुधा सीकर से नहला दो
लहरें डूब रही हों रस में,
रह न जायँ वे अपने वस में,
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को बहला दो।"

प्रसाद का गीत संसार प्रकृति के उस पार और नियति की दासता से बहुत दूर एक अलग ही क्षणिक उल्लास है। बचन में संसार की अवहेलना ही तन्मयता बन जाती है; महादेवी में अपने को उस दुःख की ज्वाला में झुलसाने की ही लगन है; प्रसाद में कल्पना का वह प्रभुत्व है कि वे बार-बार उसके परों पर अपना सारा स्थावर जड़ भार तोल कर एक नई दुनिया में, सुनहले संसार में जा पहुँचते हैं। पृथ्वी का ठोस आकर्षण मनुष्य का नियति-कृत-दुःख-भार, उसकी जन्म-जात बर्बरता से उठी हुई कलुषता का सारा खिंचाव उन्हें बार-बार नीचे की ओर, प्रत्यक्ष की ओर, कठोर सत्य की सतह पर ला पछाड़ता है, परन्तु उतनी ही बार मानवता का स्वर्गीय अंश, कवि की कल्पना के थिरकते हुए पंख उन्हें उस पार, उस ओर, उस ऊँचे संसार में ले जाते हैं। उनकी गगन-विहारिणी कल्पना-शक्ति में वह हल्कापन, सलोनापन है जो मनुष्य की पाशविकता को यहीं छोड़ कर केवल उसके हृदय की सुकोमल भावना को ही अपने साथ ऊपर उठा पाता है। प्रसाद के गीत कल्पना-यान पर विचरते हुए छाया-चित्र हैं।

प्रसाद के गीत विशेष कर उनके नाटकों में मिलते हैं। वहाँ भी उनकी स्थानीय उपयुक्तता ही उनका एकमात्र पार्थिव अंश है, जो उन्हें भावों के घात-प्रतिघात के रंग-मंच से सटाए रखता है, जो उन्हें पात्र-विशेष की प्रकृति

के बन्धन में बाँध देता है, जहाँ उन्हें नाटकीय परिस्थिति की परवशता में रहना पड़ता है। परन्तु इन दुर्दमनीय ग्रहों की उपशान्ति के साथ ही कवि की कल्पना खींच कर, तान कर, रोक कर फिर छोड़े गए तार की भाँति ऊपर को उठती है। जितना उसके पार्थिव सम्बन्ध में जोर था उतनी ही प्रतिक्रियात्मक तीव्रता और अस्पृश्यता से उनकी कल्पना किसी एक अपार्थिव लोक में पहुँचती है। उनकी प्रतिभा का यह नियति का-सा अटल स्वरूप है। उनके किसी नाटक में से किसी सन्दर्भ से सम्बन्ध रखते हुए गीत को देखो: विरहिणी का अतृप्त प्रेम, पगली का मस्त प्रलाप, नर्तकी का व्यावसायिक-गान, मातृभूमि का प्यार, भावावेश का उद्गार, हारे हुए की निराशा—सब का आदि भिन्न-भिन्न है, परन्तु सबकी इति उसी क्षेत्र में पहुँच कर होती है, जहाँ मानव की शुद्धता देवोपरि है, जहाँ उसका अधिकार अनियन्त्रित है, जहाँ उसकी गति स्वच्छन्द है, जहाँ सुख ही अनुभव का पर्यायवाची है और स्वाधीनता ही जीवन का अर्थ है; जहाँ प्रकृति की रम्यता के पीछे अगम्यता नहीं है, जहाँ की नियति मनुष्य की शत्रु या विरोधक न होकर अनुगामिनी है। उसमें शैली (Shelley) का व्योम-विहार है, कीट्स (Keats) का-सा करुण विद्रोह है, साथ ही उमर खय्याम का-सा नियति से असन्तोष है।

कोरी कल्पना से ही वह मादकता उत्पन्न नहीं हो सकती जो प्रसाद के गीतों में भरी रहती है। अनुभूति, कल्पना-लोक में प्रकृति-सौन्दर्य की व्यापकता लेकर देश काल, पात्र की सीमित परिधि को प्रकृति की विश्व-व्यापकता में परिणत करके भी, हमारे अनुभव से परे की नहीं बन जाती। कीट्स की कविता में एक प्रकार का इन्द्रिय-सुख-स्पर्श करता-सा मालूम देता है। उसकी कल्पना ग्रीक और लैटिन रोमान्स की दुनिया में पहुँचकर भी मानो उसकी अतृप्त अनुभूतियों का भार साथ लिए रहती है, उसी प्रकार प्रसाद की कल्पना में भी इन्द्रिय सुख का स्पन्दन वर्तमान रहता है, फर्क इतना ही है कि वह कीट्स की भाँति दैहिक न होकर कल्पनात्मक है (Sensousness of Imagination)। जब मालविका (चन्द्रगुप्त) वास्तविक जगत में प्रेम का अवलम्ब नहीं पाती,

का सशरीर उसके पास रहना भी अभाव रूप में ही रहता है, तब उसकी वेदना चन्द्रगुप्त की शय्या मात्र का सहारा लेकर, वह भी अन्तिम क्षणों की विभूति—ऐसे सुख का सृजन करती है, जो सिर्फ़ कल्पना पर टिका हुआ है परन्तु भावोद्वेग के कारण वह असम्भव नहीं प्रतीत होता। शय्या का स्पर्श उसकी इन्द्रियों को नहीं स्वयं उसकी चेतना को ही स्पन्दित कर देता है—

ओ मेरी जीवन की स्मृति!
ओ अन्तर के आतुर अनुराग
बैठ गुलाबी विजन उषा में,
गाते कौन मनोहर राग।"

अनुराग उषालोक में जा विराजता है और फिर पृथ्वी से उसके सौन्दर्य का पान करती हुई मालविका का—

"चेतन सागर उर्मिल होता,
यह कैसी कम्पन-मय तान।
यों अधीरता से न मींज,
लो अभी हुए हैं पुलकित प्रान।"

अभाव की वेदना हमें गला देती है। इस क्षणिक काल्पनिक सुख का स्पन्दन इन्द्रियों को शिथिल करके प्राणों को विभोर कर देता है। इस मादकता का रंग ज्यों-ज्यों गहरा पड़ता है त्यों-त्यों उत्सर्ग के लिये उत्सुक मालविका के प्राण अपनी नस-नस में चन्द्रगुप्त की स्मृति, उसके शरीर से छुई हुई उस शय्या की मूर्च्छना उसे ऊपर बहुत ऊपर कहीं लिए चली जा रही है—इन्द्रिय-जगत पीछे पड़ता जा रहा है—

"वहाँ ले चलो कोलाहल से,
मुखरित तट को छोड़ सुदूर।
आह! तुम्हारे निर्दय डाँडों से
होती है लहरें चूर।"

स्पर्श-सुख, स्मृति का अनुराग, समय और स्थल का अस्तित्व मानों एक ही भाव में डूब कर नीरव, निश्चल और अनन्त प्रकृति के अनादि तत्वों

उज्वल रूप जो अनन्त नील गगन के किनारे सिमट-सा खड़ा दीखता है, मानो प्रकृति पनिहारिन, पनघट और घट रूप में सीमित हो गई है। प्रसादजी की यह विशेषता है कि वे प्रकृति की क्रियाओं को मानवीय भाव तथा क्रियाओं को कृति-रूप द्वारा प्रकट करके पार्थिव और अपार्थिव दोनों लोकों का सौन्दर्य सजग कर देते हैं। मालविका का अपना अनुराग अन्तिम क्षणों में ही सुहावना प्रतीत हुआ और तभी वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई। प्रेम इतना सुन्दर! इतना मधुर! उसका मालविका उतना ही सुन्दर कोमल, स्निग्ध, और पवित्र चित्र आँखों में उतारती है।

"ओ मेरी जीवन की स्मृति!
ओ अनन्त के आतुर अनुराग
बैठ गुलाबी विजन उषा में
गाते कौन मनोहर राग।"

'अ' की आवृति से संगीत पैदा होता है पर वहाँ तो 'अनुराग' उषा की गुलाबी झलक में स्वयं ही गाने लगता है। प्रसाद कलाकार हैं, वे जानते हैं अनुराग का रंग वैसे भी लाल ही बताया गया है, परन्तु मालविका का अनुराग—वह क्या वैसा रक्तवर्ण लाल था? चन्द्रगुप्त के लिए वह असम्पुट प्रेम क्या इतना उद्दाम था? कहाँ वह तो अपनी कोमलता से ही उठ नहीं पाता। इसीलिए वह लाल न होकर गुलाबी था, प्रखर सूर्य के समान जलता न होकर उषा की हल्की गुलाबी झलक में गाता था। मालविका के प्राण—उत्सर्ग के कगारे बैठे हुए प्राण—अनुराग बनकर उषा की प्रशान्त गुलाबी झलक में गाते-गाते विभोर हो जाते हैं। इस सौन्दर्य का नाप-तोल असम्भव है जहाँ चित्र, काव्य, संगीत एक दूसरे को पहचान नहीं पाते।

गीतों की नाटकीय उपयोगिता; समय, स्थल, पात्र और विषय के अनुसार उनकी उपयुक्तता भी उनकी कला के अंग हैं। जब ग्रीस राजकुमारी कार्नेलिया भारतभूमि के वैभव और ज्ञान से आश्चर्यान्वित एवं पुलकित होकर उसकी प्रशंसा करती है (समय) जब वाणी द्वारा असमर्थ होकर वह

वन्दना-स्वरूप गाने लगती है (स्थल) उदार-हृदया कार्नेलिया ग्रीस की होने पर भी भारत के महत्व गुण-गान में हिचकती नहीं (पात्र) तो प्रसाद भी अपनी कल्पना के सहारे देश-प्रेम की सुन्दरतम भावना (विषय) को कार्नेलिया के मुख से प्रकट करवाते हैं—

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस गर्भ विभा पर नाच रही तरु-शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर मंगल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे,
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये, समझ नीड़ निज धारा।
बरसाती आँखों के बादल बनते जहाँ भरे करुणा जल,
लहरें टकरातीं अनन्त की पाकर जहाँ किनारा."

उस समय के भारतवर्ष का कितना सौम्य प्रशान्त स्निग्ध चित्र है जब भारत सब के आश्रय का नीड़ था। जहाँ आकर विजयी सिकन्दर भी उसकी उदारता पर मुग्ध हो गया था, जहाँ कार्नेलिया—कवि-हृदय की विभूति—भी वहीं पहुँच गई जहाँ के लिए वह चली थी। वह प्रकृति का भी आश्रय-स्थल था। देश-प्रेम की कैसी उदात्त भावना है। नाटकीय उपयोगिता की सार्थकता सम्पूर्ण हो जाती है।

× × × ×

कला! तुम अनन्त सौन्दर्यशालिनी हो, हमारी पूजा की सामग्री परिमित! वह निबट चली, भाव का उद्वेग शान्त हो चला परन्तु उपासना अभी अधूरी ही है।

—अपनी भाषा है। यद्यपि उन्होंने इसको यह रूप देने का कारण दिया नहीं पर वह इतना स्पष्ट इतना नंगा है कि न कहना ही ठीक था—और इस प्रेम-पथिक की आरम्भिक पंक्तियों में हम क्या देखते हैं—

सन्ध्या की, हेमाभ तपन के, किरण जिसको छूती हैं
रञ्जित हैं देखो जिस नई चमेली का मृदु से

और यहाँ से यदि उनका आरम्भ मानें तो भाषा की निचली सीढ़ी कितनी गहराई में दीखती है—तो इतने ऊँचे धरातल से कवि ने आरम्भ किया और ऊँचा उठाने की चेष्टा की। उसे अब भाषा मिल गई थी और वह कवि-कर्म में अपने मनोनुकूल संलग्न हुआ।

उसने 'कामायनी' में आकर अपनी कवि-वाणी को विश्रान्ति दी—और वहाँ तक भाषा को भी वह उठा ले गया।

भाषा और भाव का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं कि बिना भाषा के भाव और बिना भाव के भाषा अपना अस्तित्व नहीं रख सकते—इससे भी आगे इसका अर्थ यह भी है कि भाव के अनुकूल भाषा बनती है और भाषा के अनुकूल भावों की सृष्टि होती है और एक अपने साथ दूसरे को ऊपर उठाने की चेष्टा करता है। किन्तु हर काल में ऐसी अवस्था नहीं रहती। कभी भावों का ऐसा विपुल जागरण होता है, कभी भाव वस्त्रों की भाँति एक के ऊपर एक ऐसे उच्च स्थित होते चले आते हैं कि उस तुमुल में भाषा क्षुब्ध हो जाती है। वह जो कुछ कहना चाहती है, तब केवल संकेत-बिन्दु-मात्र का रूप धारण कर कहती है—वह तब पूर्ण अर्थ को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त नहीं कर सकती। वह उस को अपनी अशक्त अपूर्णता के साथ केवल ध्वनित करती है—तब अर्थ वाच्य से काम अधिक हो जाता है—किन्तु इससे पूर्व कवि में वह अवस्था मिलती है जहाँ भाव से अधिक भाषा का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में कवि जितने भी भाव लाता है वे शब्दमय होते हैं। एक एक भाव जितने भी अधिक से अधिक शब्द हो सकते हैं उतने शब्दों में व्यक्त होता है। तब कवि बजाता अधिक है गाता कम है। वह हृदय का रस शब्दों

में कम उंडेल पाता है—शब्दों के रस को ही उलटा हृदय में उँडेलना चाहता है। प्रसादजी के साथ इन दोनों में से कोई भी बात नहीं लगती।

उनमें हमें आरम्भ से ही विशिष्ट गंभीरता मिलती है। उनकी भाषा की भौंहे भीषण आवेगावस्था में भी विकृत नहीं होतीं, यों एक-आध कम हो जाने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं—किन्तु वह चंचलता, हास्य, क्रोध, करुणा से भाषा में खिलखिलाहट अथवा विकलता का उद्भास एक प्रकार से शून्य ही है—एक मन्थर गति का विधान—एक अन्तर स्थिरता की जमी हुई जड़—अडिग और अचल सुमेरु सी आदि से अन्त तक के काव्यों में हमें मिलती है।

ऐसी अवस्था में केवल शब्द सौन्दर्य के वाह्य-उपकरणों का विकास प्रसादजी को नहीं मिलेगा। प्रेम-पथिक की भाषा और भाव की संयोजना में निःसंदेह शब्दों का आवरण गहरा अवश्य है किन्तु उस मूर्त गंभीरता के कारण वे दिवालिया नहीं लगते। तुक-विहीनता ने उस दरिद्रता का विभ्राट और भी नहीं होने दिया। करुणा-स्थल प्रेमपथिक में आया है—

फिर तो चारों दृग आँसू चौधारे लगे बहाने! हाँ
सचमुच ऐसा करुण हृदय करुणानिधि को भाता है
कृपा-नाव क्या उनकी इस सागर में तैरा करती है
किसी मनुज का देख आत्मबल कोई चाहे कितनी ही
करे प्रशंसा किन्तु हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे
और प्रेम करुणा गङ्गा यमुना की धारा वही नहीं।

× × × × ×

नीलोत्पल के बीच सजायें मोती—से आँसू के बूँद!
हृदय सुधानिधि से निकले हो, सब न तुम्हें पहिचान सके
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिरदुःखी के परम उपाय!

इन पंक्तियों की भाषा उतार-चढ़ाव शून्य है। करुणा के चित्र का व्यंग्य इसमें अवश्य है। आँसू की उक्ति में कितनी विशद भावुक कल्पना है, या वह उतनी वाच्य नहीं। शब्दों ने अपनी भंगिमा से कुछ नहीं कहना चाहा

जो कुछ उन्हें कहना हुआ है वह ध्वनि से कहा है। शब्द एक रस सागर से वाक्य के आरम्भ से अन्त तक हैं। दुखी उच्छ्वासों का भी तक शब्दानुवाद इन पंक्तियों में नहीं—और वह कवि में कहीं भी नहीं। जहाँ थोड़ा बहुत ऐसा विकलत्व कवि ने दिखाना पसन्द किया है वहाँ भाषा की अपेक्षा, आरम्भिक अवस्था में, छन्द की गति के उद्वेलन से प्राप्त किया है। लहर में संकलित 'प्रलय की छाया', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण' को देखकर यह जाना जा सकता है। उनमें कुछ विकलत्व है, वह छन्द की गति के क्षोभ के कारण है, प्रसाद की भाषा प्रिय प्रवास के कवि के कंकड़-पत्थरों से भारी हिम-स्राव सी भाषा नहीं, गुप्तजी की भाषा की सागर-वीचियों के फेनिल उद्वर्तन का भी यहाँ अभाव है, पंतजी का वह नवनीत मधुर संगीत स्वरता भी प्रसाद में नहीं। प्रसाद में भाषा का अनूठा हेमोज्ज्वल सुकरत्व है—

पर कोई कह सकता है कि भावों के अनुकूल समस्वरित भाषा न हो तो यह भाषा का दोष है। भाषा-उद्वेग, चित्रों को यदि अपने निजी विकारों से प्रकट कर सकती है तो वह सोने में सुगन्ध के समान काव्य और कवि के उत्कर्ष को बढ़ाती है। यह लोच और चोज, भाषा की जान है—और प्रसाद की भाषा इस दृष्टि से खरी नहीं कही जा सकती। यह भी कहा जा सकता है कि ऐसा कवि शब्दों की आत्मा से परिचित नहीं। यह भी सन्देह किया जा सकता है कि ऐसा कवि कभी अपने काव्य को अभिव्यक्तिपूर्ण और प्रभावोत्पादक बना सकता है?

भाषा सौन्दर्य का जब तक मौलिक-ज्ञान न हो तब तक इन प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं मिल सकता। भाषा प्रत्येक व्यक्ति के साथ परिवर्तित होती है। जिसमें जितनी अधिक प्रधान उसके निजी व्यक्तित्व की प्रेरणा होती है उतनी ही अधिक उसकी भाषा में अन्य व्यक्तियों से भिन्नता होती है—

यह वैयक्तिक भिन्नता, संक्षेप में ऊपर बतायी जा चुकी है। किन्तु इस भिन्नता के साथ प्रत्येक कवि में उसकी भाषा के सौन्दर्य का भी एक अन्तर-रूप उपस्थित रहता है। प्रसादजी ने झरना में कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार लिखी हैं।

सरसों के पीले कागज पर वसन्त की आज्ञा पाकर
गिरा दिये वृक्षों ने सारे पत्ते अपने झुँझला कर ।।
खड़े देखते राह नये कोमल किसलय की आशा में ।
परिमल पूरित पवन-कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में ।।
अतल सिन्धु में लगा-लगा कर, जीवन की बेड़ी बाजी ।
व्यर्थ लगाने को डूबो हाँ, होगा कौन भला राजी ।।
मिले नहीं जो वाञ्छित मुक्ता अपना कंठ सजाने को ।
अपना गला कौन देगा यों, बस केवल मर जाने को ।।
मलयानिल की तरह कभी आ, गले लगोगे तुम मेरे ।
फिर दिन में ही उजड़ी पाओगे, बन गुलाब की यह मेरे ।।
कभी चहल-कदमी करने को, काँटों का कुछ ध्यान न कर ।
अपना पाँवड़ा बना लोगे प्रिय ! इस मन को आकर ।।
झरना में 'पाँवड़ा' ।

इस कविता की भाषा में क्या है ? विन्यास में मर्म को छूने की चेष्टा है, और कुछ शब्दों को टटोलने का उद्योग । विन्यास गठित और संस्कृत है । शब्दों में कवि सौन्दर्य ढूँढ़ने में लगा हुआ है । तभी कभी कवि कहता है;

'परिमल पूरित पवन कण्ठ से, लगने की अभिलाषा में'—और कहीं कहता है; 'कभी चहल कदमी करने को काँटों का कुछ ध्यान न कर'—ऐसी चहल-कदमी कवि में बहुत कम है । उसने शब्दों के सौष्ठव को ढूँढ़ा और तब वह सम्भवतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि शुद्धता वाञ्छनीय है; शुद्धता भी तपे हुए सोने की । उसने फिर छने हुए शब्दों का ही प्रयोग किया । इस सहज शुद्धता के सौन्दर्य की वृद्धि कवि के एक और भाषा सिद्धान्त पर निर्भर करती है । भाषा में शब्द-संबद्धता दो प्रकार की होती है; एक शब्दानुवर्तिनी और दूसरी भावानुवर्तिनी । जहाँ शब्द, शब्द से अपने आप जुड़े वहाँ शब्दानुवर्तिनी संबद्धता होगी । इसके लिए पदावली समास-प्रणाली की संश्लिष्ट योजना का सहकार लेती है । 'विश्व-मधु-ऋतु के कुसुम विलास' लहर, पृष्ठ १६ में

प्रसादजी ने उसी शब्दानुवर्तिनी संबद्धता का सहारा लिया। इस प्रकार की घनिष्ठता भाषा सौष्ठव और सौन्दर्य को माराक्रान्त कर देती है। शब्द अपने प्रयास से एक विशेष प्रकार के भाव को खींच कर लाना चाहते हैं और सहजत्व व्याघात उत्पन्न हो जाता है। कुछ कवि तो प्राचीन संस्कृतानुकरण पर ऐसे-ऐसे वाक्य लिख देते हैं—'रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायःकलिका राकेन्दु बिम्बानना' प्रसादजी ने इस सिद्धान्त को नहीं माना। भावानुवर्तिनी घनिष्ठता उन्होंने अपनायी है। इसमें भावों की प्रवाहित धारा में शब्द, विशिष्ट मणिकाओं से एक दूसरे से अपने उद्गारों को मिलाये प्रतीत होते हैं। मिलित और समस्त पद उसमें नहीं। इस सिद्धान्त से भाषा में एक स्वाभाविकता आ जाती है। वह शुद्धता, जो अन्यथा संस्कृताश्रयी होकर एक जटिलता उत्पन्न करती और सौन्दर्य को विकृत करती इस सहजता से खिंच कर स्फूर्तिप्रद हो गयी है।

जीवन को अविराम साधना
भर उत्साह खड़ी थी,
ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी
गहरे लौट पड़ी थी।

कामायनी, पृ० १०६

× ×

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर,
बैठि शिला की शीतल छाँह
एक पुरुष, भीगे नयनों से,
देख रहा था प्रलय प्रवाह

कामायनी, पृ० ३

इस शुद्ध स्फूर्ति के साथ भाषा-सौन्दर्य का प्राण 'करुणा' है। रसकी करुणा नहीं, भाषा की करुणा। रस की करुणा तो विशेष भावोपादान पर आश्रित है, उसका स्थायी भाव होता है करुणा। किन्तु भाव चाहे कैसे ही हों संगीत स्वर लहरी में कुछ विशिष्ट स्वरों का आगम और विशेष

के निषेध जैसे एक करुणा-लहरी [illegible]
भाषा विकास में भावों से मुक्त भी [illegible],
ओज और माधुर्य गुण मिलते हैं। [illegible]
के मूल काव्य-रस के पास पहुँचा [illegible]
कितना अभूत हो चला है—वह कहता है—

अधर में वह अधरों की प्यास
नयन में दर्शन का विश्वास;
× ×
टूटते जिससे सब बन्धन
सरस-सीकर से जीवन-कन। लहर, पृ० १६

अथवा—

झील में झाँई पड़ती थी;
श्याम-वनशाली तट की कान्त
चन्द्रमा नभ में हँसता था,
बज रही थी वीणा अश्रान्त ॥
तृप्ति में आशा बढ़ती थी,
चन्द्रमा में मिलता था ध्वान्त।
गगन में सुमन खिल रहे थे,
मुग्ध हो प्रकृति स्तब्ध थी शान्त ॥

झरना, पृ० ५७

झरना के उद्धरण में कवि में भाषा-चैतन्य की कमी है। शब्द आये हैं, बस वे आ गये हैं—किन्तु फिर भी उनके विन्यास में कवि करुणा बैठाये हुए है। ये भाषा का कारुण्य उनके नाटक के गीतों में भी विद्यमान है, और कामायनी में तो बहुत ही प्रस्फुट है—

कौन हो तुम विश्व माया कुहक सी साकार
प्राण सत्ता के मनोहर भेद सो सुकुमार !

हृदय जिसकी कान्त छाया में लिये विश्वास,
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश !

कामा० पृ० ६०

भाव आश्चर्योल्लास से पूर्ण हैं पर भाषा करुण है। भाषा पर इस करुण पालिश सुकरत्व को हम कुछ समझ पाते हैं। वे इतने ऊँचे धरतल पर हैं कि साधारण भाव-भंगिमाओं के लिए उन्हें विशेष भाषा-व्याहन करने की, उसमें अधिक उतार-चढ़ाव करने की आवश्यकता नहीं। वे रूढ़ि-मुक्त रस के अभिव्यक्ता नहीं। उन परिपाटियों के नव अर्थकार हैं। वे सौन्दर्य के साक्षात्कारक हैं और जिस सौन्दर्य का उन्होंने दर्शन किया है वह स्निग्ध और अभूत तथा अमूर्त है। उसकी कल्पना करुण रहस्य से मण्डित और संस्कृत है—उसमें स्फूर्ति भी है। इसी के अनुरूप इनकी भाषा है जो अनुद्वेलित करुण इङ्गितों का शिष्ठ एक मण्डल तय्यार करती है—उसी में उनकी कल्पना उतरती है।

करुण-भाषा की स्फूर्तिप्रद तूलिका से, ऐसा नहीं कि उन्होंने मूर्त चित्र उपस्थित ही नहीं किये। उनके उपस्थित मूर्त चित्रों की रेखायें इतनी गहरी और उभरी नहीं कि साधारण दृष्टि में दीख जायँ। भावों के जिस स्निग्ध लोक के निस्पन्द दृश्य कवि ने उतारे हैं उनमें प्रतीक सी अपनी सत्ता को लय किये हुए उनकी भाषा की मूर्त चित्रता है। वह उस पेन्सिल-चित्र की रेखाओं के समकक्ष है जिसमें एक अङ्कन ही अपनी परम्परा सब रेखाओं में बनाये हुए ऊँचायी-गहराई, गोलई, लम्बाई चौड़ाई का विस्पष्ट रूप निर्दिष्ट करता है, और जिसमें ये सब परिमितियाँ किसी भाव-जागरण को प्रधानता देने के कारण गहराई से अपना महत्त्व घोषित नहीं करती, जैसे अपना एकत्र समर्पण कर स्वतःभाव बन गयी हों। तुलसीदासजी ने जब कहा—

उठति ऊर्म्मि अति गुर्म्मि सव्व पव्वै समुद्र सर,

और इस प्रकार समुद्र का और पृथ्वी का चांचल्य अर्थ और शब्द दोनों से सामना हुआ। इसमें मूल शब्दों की हिलकोर से उग्र रेखाओं क

चित्र उतरता है, कवि का भाव भी वहाँ उद्दण्ड है। प्रसादजी ने अपने काव्य इन तूफानों की जहाँ सृष्टि की है वहाँ मूर्त एन्द्रिकता के सहारे नहीं की वरन भावेन्द्रिकता के सहारे की है। उर्वि गुर्वि पर्वे आदि से कर्ण कुहरों में जो संघर्ष होता है उसका अर्थ उद्वेलन लगता है। प्रसादजी ने अपनी भाषा में इसे बचा दिया है वे जब लिखते हैं—

चलो, देखो वह चला आता बुलाने आज—
सरल हँसमुख विधु जलद लघु खंड वाहन साज।

इन पंक्तियों से किसी के आने के शब्दों का जो मूर्त चित्र उपस्थित होता है वह बहुत पूर्ण और सफल है। किन्तु मूर्त ऐन्द्रिकता नहीं, भावेन्द्रिकता है। प्रत्येक शब्द अपने ध्वनि-संघर्ष से नहीं वरन् भाव-संघर्ष से अपना एक रूप स्थिर करता है। 'सरल हँसमुख विधु जलद लघु खंड वाहन साज'—इसमें सब शब्द अपने अर्थ-भाव के साथ अपने रूप के भावों को भी जागृत करते हैं—उनसे जो मूर्त रूप आता है उसमें अर्थभाव भरकर कल्पना को विशद और सजीव कर देते हैं। 'उर्वि' शब्द से जो कर्ण-संघर्ष से ऊँचाई नीचाई की मूर्त-ऐन्द्रिकता का चित्र उपस्थित होता है, उसमें उर्वि का अर्थ 'पृथ्वी' कहीं समाता नहीं। यहाँ भावेन्द्रिकता नहीं हो सकती जैसी प्रसादजी की पंक्ति में है। अतः कवि भाषा को बहुत ऊँचा उठा ले गया है—उसकी भाषा भावुकता के साथ और ऊपर झाँकने को प्रस्तुत है। अपना सौन्दर्य उसने सँवारा है कि और ऊँचे सौन्दर्य की ओर चलें, पर कलाकार की आँख उससे भी बड़े कलाकार ने बन्द करदी।

कामायनी की भाव-मूलक व्याख्या

वर्तमान युग में मानव को अपने बल और दौर्बल्य की आत्मचेतना हो गई है। वह अपने दौर्बल्य पर भी गर्व करता हुआ अपने पतन में उत्थान के बीज निहित पाता है। कामायनी इसी आत्म-चेतना से लिखा हुआ महाकव्य है। इसके सुरम्य कथा-सूत्र में मानव सभ्यता का इतिहास एवं मानव मनोवृत्तियों का सांकेतिक विवरण सम्बद्ध हैं जो कि उसके काव्य-कुसम के रसपूर्ण चित्रित सौन्दर्य में एक दिव्य सौरभ का आमोद प्रदान करता है।

इस महाकाव्य के नायक हैं आदि-पुरुष वैवस्वत-मनु जो कि जल-प्लावन के पश्चात् देवताओं की ध्वस्त सृष्टि में से बच रहे थे और जिनके देवत्व का दम्भ जर्जरित हो गया था।

आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ।
आह सर्ग के प्रथम अङ्क का,
अधम पात्र-मय सा विष्कम्भ॥

मनु जिस रूप में हिमगिरि पर दिखाई देते हैं वह चिन्ताकुल होने पर भी पूर्णतया स्वस्थ और पौरुषमय है। मनु का जैसा स्वस्थ पुरुष-सौन्दर्य प्रसादजी ने अंकित किया है वैसा अन्यत्र बहुत कम देखने को मिलता है।

अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार।
स्फीत शिरायें स्वस्थ रक्त का,
होता था जिसमें संचार॥

चिन्ता-कातर वदन हो रहा,
पौरुष जिसमें ओत-प्रोत।
उधर उपेक्षामय यौवन का,
बहता भीतर मधुमय स्रोत॥

इस काव्य में फलप्राप्ति मनु को होती है किन्तु श्रद्धा के ही सहारे। वही उनको चिन्ता के जीवन से आनन्द-लोक तक पहुँचाती है। इसीलिए उसी के नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ। एकाकी मनु चिन्ताकातर था और उसमें एक प्रकार के श्मशान-वैराग्य के रूप में देव-सभ्यता की उच्छृङ्खल विलासिता की प्रतिक्रिया परिलक्षित होती है।

प्रकृति रही दुर्जेय पराजित,
हम सब थे भूले मद में।
भोले थे, हाँ तिरते केवल,
विलासिता के नद में॥
वे सब डूबे, डूबा उनका,
विभव, बन गया पारावार।
उमड़ रहा है देव सुखों पर,
दुःख-जलधि का नाद अपार॥

ऐसी पराजय की मनोवृत्ति में चिन्ता के सिवाय और कौन सी वस्तु स्थान पा सकती है? जब हृदय में उत्साह होता है तब चिन्ता नहीं रहती। मनु अपने पुरुषत्व के अभिमान में चिन्ता को दूर हटाना चाहते हैं।

बुद्धि, मनीषा, मति, आशा, चिन्ता,
तेरे हैं कितने नाम!
अरी पाप है तू जा चल जा,
यहाँ नहीं तेरा कुछ काम॥

बुद्धि और चिन्ता का चाहे ऐक्य न हो किन्तु साहचर्य अवश्य है क्योंकि जहां चिन्ता होती है वहां ऊहापोह में बुद्धि का प्रयोग अवश्य होता। जैसा कि आचार्य शुक्लजी ने लिखा है, यह बुद्धिवाद के विरोध का प्रथम

दुख का गहन पाठ पढ़ कर अब
सहानुभूति समझते थे;

'ठीक है जाके पायँ न फटे बिवाई सो का जाने पीर पराई' यह है पराये सात्विक कर्म। इस से श्रद्धा की प्राप्ति होती है।

बहुत प्रतीक्षा तथा अपने मन को सुलानेवाले प्रेम की सुध करने के पश्चात् मनु को श्रद्धा की आवाज सुनाई पड़ी। सौन्दर्य उपासना के लिए प्रेम की जाग्रति आवश्यक है। मनु जिस आवाज को सुनने को तैयार हो गये थे वही उनके कानों में आई। आवाज ही चिन्ता-मग्न पुरुष को आकर्षित कर सकती है फिर तो सौन्दर्य-दर्शन के लिए नेत्र खुल जाते हैं। नेत्र खुलते ही श्रद्धा की नयनाभिराम मूर्ति भी सामने आई जिसका वर्णन प्रसादजी ने इस प्रकार किया है।

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग

नील वस्त्र चिरस्थायी प्रेम का प्रतीक होता है क्योंकि नील रंग बार-बार धोने से भी हलका नहीं पड़ता। सूर ने भी राधा को नीली फरिया पहनाई है। श्रद्धा भावुकता की मूर्ति है, कला और सौन्दर्य की प्रतीक है। वह गंधर्व देश में कला का ज्ञान प्राप्त कर के आई थी।

'भरा था मन में नव उत्साह
सीखलूँ ललित कला का ज्ञान'

श्रद्धा ने मनु को आशा, उत्साह और कर्मण्यता का सन्देश दिया। श्रद्धा के उदय होते ही आशा का संचार होने लगता है। में जो विश्वास की मात्रा रहती है वही उत्साह का कारण बनती है। श्रद्धा के मुख से प्रसादजी जीवन मीमाँसा का भी उद्घाटन कराकर मन को निराशाजन्य पलायनवाद से विरत कर जीवन का आनंन्द लेने की ओर प्रवृत्त करते हैं।

जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा है स्पंदित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।

दुख ही सुख के विकास का कारण होता है। हमको जीवन उसकी पूर्णता में ग्रहण करना चाहिए। दुखों को छोड़कर अमिश्रित सुख नहीं मिल सकता। भूमा पूर्णता का ही नाम है। 'भूमा वै सुखम्' दुख ही जीवन के मूल्यतम रत्नों को प्रकाश में लाता है:—

व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।

मनु पलायनवाद की ओर जाता है। श्रद्धा उसको जीवन-संग्राम की ओर ले जाती है। प्रसादजी ने अपने नाटकों में नारी को महत्व दिया है। पुरुष-प्राधान्य के बहुत से काव्य लिखे जा चुके हैं, नारी-प्रधान्य के काव्य से हमें विचलित नहीं होना चाहिए। किरातार्जुनीय में द्रौपदी ने ही पाण्डवों को प्रोत्साहन दिया था और राजपूत रमणियाँ भी पुरुषों को युद्ध के लिए सुसज्जित करती रही हैं किन्तु यहाँ श्रद्धा ने सुसज्जित करने से कुछ अधिक श्रम किया है। उसने मनु को निराशा के गर्त से निकाल कर जीवन में प्रवेश कराया है। मनु कहते हैं:—

किन्तु जीवन कितना निरुपाय
लिया है देख, नहीं संदेह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह

श्रद्धा तप की अपेक्षा जीवन को महत्व देती है और आकांक्षापूर्ण आशा

आल्हाद की ओर मनु का ध्यान आकर्षित करती है। जीवन तिरस्कार की वस्तु नहीं। श्रद्धा का उत्साहपूर्ण उत्तर सुनियेः—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह
'अरे तुम इतने हुए अधीर
हार बैठे जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर
तप नहीं केवल जीवन सत्य,
करुण यह क्षणिक दीन विषाद

श्रद्धा मनु, के लिए अपने हृदय का द्वार खोलकर दया, माया, ममता आदि रत्नों को उसे भेंट करती है

दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्ननिधि स्वच्छ

जीवन का उल्लास और आशावाद जितना हमको कामायिनी के वचनों में मिलता है उतना इस युग में बहुत कम दृष्टिगोचर होता है। इस युग के निराशावाद के लिए यह एक औषधि रूप है।

विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार।
हसाता रहे उसे सविलास,
शक्ति का क्रीड़ामय संसार॥
शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त,
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त,
विजयिनी मानवता हो जाय॥

श्रद्धा के इस आत्म-समर्पणमय वीरता के संदेश के पश्चात् काम ने एक दूरागत ध्वनि के रूप में आकर अपना परिचय देते हुए कन्यादान की रसम भी अदा करदी।

हम दोनों की सन्तान वही,
कितनी सुन्दर भोली-भाली।
रंगों ने जिनसे खेला हो,
ऐसे फूलों की वह डाली॥
जड़ चेतना की गाँठ वही,
सुलझन भूल सुधारों की।
वह शीतलता है शान्तिमयी,
जीवन के उष्ण विचारों की॥

सरसरी तौर से देखने पर श्रद्धा का, काम की दुहिता होना कुछ संदिग्ध सा प्रतीत होता है। किन्तु यदि हम काम को उसके शुद्ध और व्यापक रूप में लेते हैं तो यह संदेह दूर हो जाता है। संसार में काम एक आदि-प्रेरक शक्ति है। 'काममयं एवायं पुरुषः, लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा सब इसी के विविध रूप हैं। जीवन की आकांक्षा (The will to live) भी इसका नामान्तर है। काम में ही भाव का मूल है। कलाओं का भी इसी से सम्बन्ध है। चौसठ कलाओं का विवरण हमको काम-सूत्रों में मिलता है। काम आकांक्षा है रति उसकी तृप्ति है। आकांक्षा की तृप्ति श्रद्धा को जन्म देती है।

काम के पश्चात् वासना का उदय होता है। वासना काम का ही व्यक्त रूप है। काम और वासना मनुष्य की इच्छा शक्ति के ही रूपान्तर हैं। वासना के आते ही मनु का मन सौन्दर्य-प्रवण हो जाता है और कामायनी के पालित पशु के प्रति ईर्ष्या जाग्रत हो जाने पर भी वह श्रद्धा को आत्म-समर्पण कर देता है।

मैं तुम्हारा हो रहा हूं' यही सुदृढ़ विचार
चेतना का परिधि बनता घूप चक्राकार

सौन्दर्य के विषयी-प्रधान (Subjective) और विषय-प्रधान (objective) दोनों ही पक्ष हैं। बिहारी ने इन दोनों पक्षों का उद्‌घाटन 'रूप रिझावन हार वह ये नवता रिझवार' इस दोहार्ध में किया है। वासना उसके विषयीप्रधान पक्ष को पुष्ट करती है और लज्जा उसके विषयप्रधान पक्ष को बल देती है। लज्जा वासना की अतिशयता के ऊपर एक आवश्यक

'ब्रेक' का भी काम करती है। कामायनी में लज्जा के इन दोनों धर्मों की ओर संकेत किया गया है।

> मैं उसी चपल की धात्री हूँ,
> गौरव महिमा हूँ सिखलाती
> ठोकर जो लगने वाली है
> उसको धीरे से समझाती

मनु श्रद्धा के वचनों का उलटा अर्थ लगा कर पशुबलि के काम्य-कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं और इसमें असुरों के पुरोहित किलात और आकुलि उनके सहायक बनते हैं। पशुबलि होती है, पाशविकता की वृद्धि के लिए। मेरी समझ में दोनों ओर के आत्मसमर्पण के बाद यह काम्य-कर्म का व्यापार कुछ असंगत सा लगता है। श्रद्धा को पुरोडाश और सोमपान कराना अनावश्यक था। पशुबलि का विरोध प्रसादजी के प्रकाम्य विषयों में से था, शायद इसीलिए उसके वर्णन करने का मोह वे संवरण न कर सके हों। यह बलिकर्म श्रद्धा के पालित पशु के प्रति मनु के ईर्षालु मन की प्रेरणा से हुआ हो या पूर्व संस्कारों की प्रबलता से, जो कुछ भी हो यह कुछ अप्रासंगिक सा लगता है।

मनु अपने आदर्श स्वभाव में चित्रित नहीं हुए हैं। प्रसादजी यथार्थवादी हैं। मनु का चरित्र नैतिक बन्धनों से हीन न हो साधारण मनुष्य के रूप में दिखाया गया है। पहले उनको श्रद्धा के पालित पशु के प्रति ईर्ष्या हुई थी, अब अपने ही भावी पुत्र के प्रति। मनु देव सृष्टि के अबाधित अधिकारों के संस्कार लेकर आये थे और शायद वे घर में बंधकर नहीं बैठना चाहते थे।

[illegible] से दबी हुई श्रद्धा का केतकी गर्भ सा पीला मुँह और आँखों में [illegible] उनको अधिक आकर्षक न दे सका। A thing of beauty is not a joy forever की बात उपस्थित हो गई थी। श्रद्धा [illegible] का भी विरोध करती थी। वह मृगया के आगे खेती की [illegible] में प्रवृत्त हो गई थी। [illegible] प्रतीक रही है। श्रद्धा के [illegible] और मनु के दूसरे को न सहन करने वाले प्रेम में संघर्ष हो जाता है।

यह जीवन का वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार।
केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर रहे भार॥

मनु का अहं इतना बढ़ा हुआ है कि वह अपने बिना श्रद्धा को सुखी नहीं देख सकता। पुत्र और पति की प्रतिद्वन्दिता का उल्लेख आज कल के मनोविश्लेषण शास्त्र में आता है किन्तु यहाँ पर यह पूर्णतया व्यक्त हो गया है।

तुम फूल उठोगी लतिका सी
कंपित कर सुख सौरभ तरङ्ग
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी कुरङ्ग।

मनु वहाँ से चले जाते हैं किन्तु श्रद्धा से पृथक होते ही उनको पश्चाताप और विषाद घेर लेता है। वे अपने को नियति चक्र का शिकार पाते हैं। यह भी प्रसादजी के अभिमत विषयों में से है।

इस नियति नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाँच रही
खोखली शून्यता में प्रतिपद असफलता अधिक कुलाँच रही
पावस रजनी में जुगुनू गण को दौड़ पकड़ता मैं निराश
× × उन ज्योति कणों का कर विनाश

मनु को श्रद्धा के छोड़ने के लिए काम भी बहुत फटकारता है 'तुम भूल गये पुरुषत्व मोह से कुछ सत्ता है नारी की' और शाप भी देता है। यहाँ पर मनु श्रद्धा के हृदय-पक्ष से हटकर इड़ा के बुद्धि-पक्ष की छाया में आते हैं। इड़ा सारस्वत देश, जो बुद्धि का प्रतीक है और जिसमें देवताओं और दानवों का युद्ध हो चुका है की रानी है। वह कर्म और विचार की अधिष्ठातृ देवी है। उसका रूप ही तर्कमय और ज्ञानमय था।

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान

या एक हाथ में कर्म-कलश वसुधा जीवन रस लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये

इड़ा मनु को सारस्वत देश का राज करने को कहती हैं। इड़ा के साथ रहने से मनु की अध्यक्षता में विज्ञान-प्रधान सभ्यता का विकास होता है। कामायनी में सभ्यता की तीनों श्रेणियाँ आ जाती है। स्वयं मनु मृगया वाली सभ्यता के पोषक थे। श्रद्धा कृषि और पशु-पालन की सभ्यता के पक्ष में थी। इड़ा के संयोग से मनु, विज्ञानप्रधान सभ्यता के जन्मदाता बने। बुद्धि के साथ उनको वैभव भी मिला, उसमें दैव-कोप हुआ। मनु वैभव से ही सन्तुष्ट न थे। वे स्वयं इड़ा पर अधिकार जमाना चाहते थे।

बुद्धि का दुरुपयोग विनाश का कारण बनता है। मनु की प्रजा विद्रोह करने लगी और युद्ध छिड़ गया। मनु अपनी दी हुई वैज्ञानिक सभ्यता का अहसान जतलाते हैं। उनकी प्रजा उस सभ्यता का तिरस्कार कर उत्तर देती है।

हम संवेदना शील हो चले यही मिला सुख
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुख
प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी
शोषण कर जीवनी बना दो जर्जर झीनी

इस उत्तर में गांधीवाद के सरल प्राकृतिक जीवन का पक्ष लिया गया है। मनु संग्राम में आहत होकर मूर्छित हो जाते हैं।

श्रद्धा इस सब व्यापार को स्वप्न में देख चुकी थी। वह अपने पुत्र मानव को साथ लेकर मनु की खोज में चल दी। श्रद्धा सारस्वत देश में पहुँचकर इड़ा को मनु की विफलता पर सहृदयतापूर्ण विचार करती हुई पाती है। मनु श्रद्धा और कुमार को देखकर कृतज्ञता से भर गये और उससे [illegible] की छाया से बाहर ले जाने के लिए कहने लगे। मनु को श्रद्धा का [illegible] और उसके प्रेम का मूल्य प्रतीत होने लगा।

नहीं पा सका हूँ मैं जैसे
जो तुम देना चाह रही

क्षुद्र पात्र ! तुम उसमें कितनी
मधु धारा हो ढाल रही।
सच बाहर होता जाता है
स्वगत उसे मैं कर न सका,
बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे
हृदय हमारा भर न सका।

यहाँ पर फिर हृदयवाद की विजय होती है, किन्तु, मनु मोह के बन्धन में अधिक नहीं रहना चाहते थे।

वे रात्रि में ही भाग निकले। उनके हृदय में पराजय की लज्जा और बदला लेने की अशक्तता काम कर रही थी श्रद्धा के संयोग हो जाने पर मनुष्य संघर्ष में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

सुबह उठते ही श्रद्धा, इड़ा और कुमार तीनों ही मनु की खोज में निकलते हैं। इड़ा अपने को सबसे अधिक अपराधिनी समझती थी। उसने रास्ते में पश्चात्ताप भरे शब्दों में श्रद्धा से क्षमा याचना की। श्रद्धा ने इड़ा को उसकी न्यूनता बतलाई।

वन विषम ध्वान्त
सिर चढ़ी रही पाया न हृदय
जीवन धारा सुन्दर प्रवाह,
सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह;
ओ तर्कमयी ! तू गिने लहर

'सिर चढ़ी' में अभिधा और लक्षणा के अर्थों का बड़ा सुन्दर समन्वय हुआ है। बुद्धि मस्तिष्क में रहती है। यहाँ पर प्रसादजी ने जीवन मीमांसा का एक सिद्धान्त श्रद्धा के मुख से कहलाया है। जीवन के रहस्य की प्राप्ति ब्यौरे (Detail) में पड़कर नहीं मिलती। जीवन को उसकी पूर्णता में व्यापक दृष्टि के साथ देखने में हम उसका रस ले सकते हैं। लहरों के गिनने की अपेक्षा हमको उसके पूर्णप्रवाह का आनन्द लेना चाहिए। श्रद्धा ने यद्यपि इड़ा को फटकार बतलाई थी तथापि वह उसका महत्व जानती थी।

सच्चा श्रद्धावान विरोध नहीं कर सकता। वह गुण ग्राहक होता है। इसीलिए कामायनी अपने कुमार को इड़ा के साथ कर देती है। वह जानती थी कि दोनों के साथ रहने में दोनों का ही नहीं वरन् सारी मानव जाति का कल्याण है।

हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथाभार,
यह तर्कमयी, तू श्रद्धामय
तू मननशील, कर कर्म अभय
इसका तू सब संताप निचय
हर ले, हो मानव भाग्य उदय
सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत सुन माँ की पुकार,

श्रद्धा भी कर्म के विरुद्ध नहीं है किन्तु वह विषमता उत्पन्न करने वाले कर्म नहीं चाहती वह सब प्राणियों की समरसता की इच्छुक है। समरसता शैव दर्शन का शब्द है। शैव्य अद्वैतवादी दर्शन है। अद्वैतवाद में विषमता को स्थान नहीं।

इड़ा और मानव को विदा करके, श्रद्धा ने मनु को नदी के एकान्त कूल पर लेटा हुआ पाया। श्रद्धा उनको सहारा और प्रोत्साहन दे उस उच्च शिखिर पर ले जाती है जहाँ महा हिम का धवल हास उल्लासित होकर स्वयं नृत्य करते हुए नटराज की मूर्ति बन रहा था। बिना श्रद्धा के मनुष्य को भगवान के दर्शन नहीं मिलते और दर्शन मिलकर ही रहस्य का उद्घाटन होता है, हृदय की ग्रन्थि खुल जाती है और आनन्द की प्राप्ति होती है।

मनु के चरण शिथिल हो जाने पर भी श्रद्धा उन्हें और भी उच्च भूमि पर ले जाती है। वहाँ मनु को तीन बिन्दु दिखाई दिए।

त्रिदिक विश्व, आलोक बिन्दु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे

ये बिन्दु इच्छा, क्रिया और ज्ञान के थे। ये अलग अलग थे। इच्छा का रंग तो भावमूलक होने के कारण लाल था, कर्म का रंग कठिन लोह-श्रृङ्खला से सम्बन्ध होने के कारण काला और ज्ञान का रंग श्वेत कहा है। यही स्वर्ण लोह और रजत के रंग हैं। श्रीमद्भागवत में मय दानव तीन के रथों का उल्लेख है। ये रथ सोने, चाँदी और लोहे के थे। ये इतने बड़े थे कि पुर से दिखाई पड़ते थे—'स निर्माय पुरस्तिस्रो हैमीरौप्यायसी विभुः' इसी से ज्ञान, इच्छा और क्रिया के वृत्तों के मिल जाने को त्रिपुरदाह कहा है।

श्रद्धा इच्छा लोक का इस प्रकार परिचय देती है—

वह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कन्दुक सा सुन्दर
छाया-मय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर
चिर-वसन्त का यह उद्गम है
पतझर होता एक ओर है
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख दुख बँधते एक डोरे से।

कर्म-लोक का नीचे के शब्दों में परिचय दिया गया है—

कर्म-चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक बन नियति प्रेरणा
सब के पीछे लगी हुई हैं
कोई व्याकुल एषणा।
श्रममय कोलाहल, पीडनमय
विकल परिवर्तन महा यंत्रका
क्षण भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।

ज्ञान-क्षेत्र के विषय में श्रद्धा मनु को इस प्रकार बतलाती है—

'प्रियतम ! यह तो ज्ञान क्षेत्र है
सुख। दुख है उदासीनता,
यहाँ न्याय निर्मम चलता है
बुद्धि चक्र, जिसमें न दीनता।
यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती,
बुद्धि, विभूति सकल सिकता सी
प्यास लगी है ओस चाटती।

भाव लोक में सब सुख दुख एक साथ बँध जाते हैं। कर्म लोक में नियतिचक्र चलता है जिसमें मनुष्य परवश हो जाता है किन्तु अपनी मूढ़ता के कारण अपने को कर्त्ता मानता है (कर्ताऽहं मन्यते)।

अन्ध प्रेरणा से परिचालित
कर्ता में करते निज गिनती।

ज्ञान में भेद और विवेक रहता है। यहाँ पर ब्योरे की ओर ज्यादह ध्यान दिया जाता है। यहाँ प्राप्य मात्र मिलता है किन्तु भाव लोक की सी तृप्ति नहीं। यद्यपि इडा में ज्ञान और कर्म का योग दिखाया गया था और श्रद्धा में भाव और कर्म का। तथापि यहाँ पर उनको अलग दिखाकर तीनों के पृथक और स्वतन्त्र रहने की अपूर्णता बतलाई गई है। समन्वय की आवश्यकता तभी समझ में आती है जब उनके पृथक रहने का दोष समझ में आ जाय

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

श्रद्धा भी यद्यपि भावनाशक्ति है तथापि जिस अंश में तीनों के समन्वय के लिए भावना की आवश्यकता है उस अंश में वह अलग रखी गई है समन्वय कराने वाला कोई अलग ही होता है। मनुष्य श्रद्धामय होकर तीनों का समन्वय कर सकता है और तीनों के समन्वय में ही आनन्द और कल्याण

की प्राप्ति होती है, श्रद्धा की स्मिति-रेखा से तीनों बिन्दु मिल जाते हैं—

महा ज्योति रेखा सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

× × ×

स्वप्न स्वाप, जागरण भस्म हों
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

मनु श्रद्धा के साथ अकेले नहीं रह पाते। फिर तो पूर्ण समन्वय न होता। इड़ा भी वहाँ मानव तथा अपनी प्रजा समेत आ जाती है। उनके साथ एक वृषभ भी था जो धर्म का प्रतीक है। धर्म को साथ लेकर ही हम आनन्द के लोक में पहुँच सकते हैं। आन्दलोक को प्राप्त कर धर्म अनावश्यक हो जाता है। वहाँ उसका उत्सर्ग कर दिया जाता है। वहाँ पहुँचकर इड़ा ने श्रद्धा के आगे सिर झुका दिया था यही हृदयवाद और बुद्धिवाद का समन्वय है—

भर रहा अङ्क श्रद्धा का
मानव उसको अपना कर
था इड़ा-शीश चरणों पर
वह पुलक भरे गद्‌गद् स्वर।

मनु ने भी उदारता पूर्वक इड़ा से अपना वैर भाव दूर कर दिया और कहने लगे—

हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है

[illegible] का सुन्दर रूप है। [illegible] [illegible] है
और इसी के साथ मनु और श्रद्धा की [illegible] [illegible] होने
वाले आनन्द का [illegible]। कामायनी का [illegible] शब्द रहस्यवाद का
अच्छा उदाहरण है।

प्रसादजी शैव दर्शन के अनुयायी थे जिनमें आनन्द को विशेष महत्व दिया गया है। प्रसादजी का कथन है कि प्राचीन आर्य आनन्दवाद के मानने वाले थे। उनके हृदय में जीवन का उल्लास था जो उनकी [illegible] में छलकता था। जो प्राचीन इस आनन्दवाद से अनुप्राणित न हो सके वे [illegible] कहलाये। वे दुःखवाद की ओर गये और आदर्शवादी बने। कामायनी के समझने में प्रसादजी के रहस्यवाद शीर्षक लेख में दिया हुआ अंश का उद्धरण विशेष रूप से सहायक होगा—

"उपनिषद् में भी आनन्द की प्रतिष्ठा, विज्ञान, प्रेम और प्रमोद की भी कल्पना हो गई थी, जो आनन्द सिद्धान्त के लिए आवश्यक है। इस तरह जहाँ एक ओर भारतीय आर्य जातियों में (जिनमें बौद्ध जैन आदि सम्मिलित हैं) तर्क के आधार पर विश्लेषणात्मक दुःखवाद का प्रचार हो रहा था वहाँ प्रधान वैदिक धारा के अनुयायी आर्यों में आनन्द का सिद्धान्त भी प्रचारित हो रहा था। वे कहते थे—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (मुण्डक)।

नैषा तर्केण मतिरापनेया (कठ) आनन्दमय आत्मा की उपलब्धि विश्लेषणात्मक विचारों और तर्कों से नहीं हो सकती।"

कामायनी में आर्यों के इसी मान्य सिद्धान्त की स्थापना की गई है। इस आनन्दवाद में तप द्वारा इन्द्रियों को कष्ट देने की आवश्यकता नहीं और न मन के निग्रह की क्योंकि शैवागमों के अनुयायी सारे विश्व को शिवमय मानते हैं फिर वे शिव को छोड़ कर जायगें कहाँ? बाहर भीतर आनन्दघन शिव के अतिरिक्त दूसरा कौनसा स्थान है।

इस प्रकार कामायनी में प्रसादजी के सभी मान्य सिद्धान्तों का समावेश हुआ है और इसमें उनकी कला की अन्तिम परिणति है।

करने की उच्छा भी जागरित होती है, पर उनके पीछे पर एक प्रकार का आश्चर्य होता ही है।

श्रद्धा के हृदय का निर्माण अनन्त स्नेह और अगाध कोमलता से हुआ है। उसकी ममता पशुओं तक विस्तृत है। मनु दो बार उसे छोड़ कर भागते हैं, और श्रद्धा दोनों बार मन में मैल न लाती हुई मनु के हृदय का बोझ हलका करती है। दूसरी बार मनु जब प्रेम में विश्वासघात के भी दोषी हैं, श्रद्धा का उन्हें अपनाना नारी-हृदय की अनन्त क्षमा का परिचय देता है। यहाँ नारी ने नर को पराजित कर दिया। सच पूछो तो प्रेम में नारी ने नर को सदैव पराजित किया है—क्या सीता ने राम को, क्या राधा ने कृष्ण को और क्या गोपा ने बुद्ध को।

इड़ा आकर्षक है, प्रेरणामयी है। कवि ने कुछ तो रूपक के आग्रह से और कुछ विशेष उद्देश्य से उसे कठोर-हृदया बनाया है। उसकी दृढ़ता से मनु के अहं को धक्का लगता है जिससे उनका उर कोमल होकर श्रद्धा की उत्सर्ग-भावना से पिघलता है। श्रद्धा के स्नेह का अपमान कर जब मनु इड़ा से प्रेम-याचना करते हैं तो इच्छा होती है कि यह नारी इनके साथ रूखा व्यवहार कर इस बात को प्रत्यक्ष करे कि प्रेम में प्रवंचना का क्या अर्थ होता है? उस दिन की उस प्रवंचना का फल आज भी प्रत्येक निराश-प्रेमी और अभागी प्रेमिका को उठाना पड़ रहा है। शत-वृश्चिकों के दंशन-सा यह अमर सत्य सभी के पीछे गया है—

"जिसके हृदय सदा समीप है
वही दूर जाता है;
और क्रोध होता उस पर ही
जिससे कुछ नाता है।"

वैभव-विहीना सन्ध्या के उदास वातावरण में कामायनी का विरह-वर्णन कितना स्वाभाविक और विषाद को घनीभूत करने वाला है, और कितने थोड़े शब्दों में, किस मार्मिकता से व्यक्त किया गया है! किसी के विरह-वर्णन में एक साथ आप सवासौ पृष्ठ काले कर दें तो इससे यह तो पता चल जायगा

कि आप एक बात को फैला कर कह सकते हैं या किसी के वियोग की कथा को एकसे ढंग पर दस विरहिणियों के द्वारा व्यक्त कराएँ तो यह भी पता लग जायगा कि विरह एक प्रकार का दौरा है जो कभी किसी को और कभी किसी को उठता है। महाकाव्य में वर्णन के विस्तार का जो अधिकार प्राप्त है उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि आप उसे ऐसा विस्तार दें कि वह अपना प्रभाव ही खो बैठे। पाठकों के मस्तिष्कों के पात्रों की भी एक माप है जिसमें अधिक रस डालने से उछलने लगता है। अधिक विस्तृत वर्णन में समरसता नहीं रह सकती, अतः अच्छे कवि इस बात का ध्यान रखते हैं कि अपनी ओर से उचित परिमाण में ही किसी रस को पिलावें। अशोकवृक्ष के नीचे बैठी सीता का विरह-वर्णन कितना संयत है, कितना संक्षिप्त और कितना प्रभावशाली! इसी सुरुचि का परिचय प्रसादजी ने 'स्वप्न' सर्ग में दिया है। प्रकृति के प्रतीकों के सहारे कामायनी के क्षीण शरीर का आभास, प्रकृति के प्रसन्न वातावरण के सम्पर्क से पीड़ा की तीव्रता का अनुभव, अतीत की मधुर घड़ियों का स्मरण, थोड़े से आँसू और बालक के 'माँ' शब्द के उच्चारण से एक गहरा आघात—और बस।

प्रकृति को लेकर कामायनी में 'प्रसाद' जी की विशेषता है उसके भयंकर विनाशकारी स्वरूप को चित्रित करना। शशि की रेशमी विभा से भरी जल की जो लहरें नौका-विहार के समय साड़ी की सिकुड़न-सी प्रतीत होती हैं, वे हमें निगल भी सकती हैं, जो अनिल केवल इसलिए गंधयुक्त है कि वह किसी की भावी-पत्नी के सुरभित-मृदु-कचजाल से गंध चुरा लाया है; वह घनीभूत होकर श्वासों की गति रुद्ध भी कर सकता है; जो विद्युत किसी के अंग की आभा और चंचलता का उपमान बनती है और वर्षा की बूंदों को अपनी चमक से सोने की बूंदें बनाती हैं, वह कहीं गिर कर वज्र रूप भी धारण करती है, और 'गरल-जलद की खड़ी झड़ी' सहायक भी होती है। कामायनी के प्रारम्भ में पंचभूत के भैरव मिश्रण से जो प्रलय की हाहाकारमय स्थिति उपस्थित हुई, 'प्रसाद' द्वारा प्रकृति के उस दुर्दमनीय स्वरूप का चित्रण चमत्कृत करने वाला है—

"उधर गरजतीं सिंधु लहरियां
कुटिल काल के जालों--सी;
चली आरहीं फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों-सी।"

जहाँ प्रकृति के मनोमुग्धकारी स्वरूप का अंकन हुआ है वहाँ दो विशेष बातें मिलती हैं—स्थान में हिमालय के वर्णन और समय की दृष्टि से संध्या और रात्रि के चित्रों की भरमार। हिमालय अधिकतर पात्रों की लीलाभूमि होने से बार-बार कवि के दृष्टिपथ में आया है। दूर-दूर तक विस्तृत हिम पर नव कोमल आलोक का बिखरना, और आलोक का अगणित हिमखंडों पर पड़ कर अगणित हिमकर का सृजन करना! कितना भव्य दृश्य है! संध्या और तारे भरी ज्योत्स्नामयी यामिनी के अनेक रम्य चित्र भी कामायनी में बिखरे पड़े हैं। पर सब से सुन्दर और पूर्ण, आशा-सर्ग में रजनी का एक मधुर चित्र है जिसमें चल-चित्र का सौन्दर्य भरा पड़ा है। विश्व क्या है? एक कमल। रजनी क्या है? एक मृदुल मधुकरी और ज्योत्स्ना नहीं है, वही मधुकरी रजत-कुसुम के नव पराग को मस्ती में भर कर उड़ा रही है। अब हिमगिरि और संध्या दोनों के संयोग का एक संश्लिष्ट चित्र देखिए:—

"संध्या-घनमाला की सुन्दर
ओढ़े रंग-बिरंगी छींट;
गगन-चुम्बिनी शैल-श्रेणियां
पहने हुए तुषार किरीट।"

श्री० पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रसाद जी की विचार-धारा में जो कई दोष ढूँढे हैं उनमें से एक यह है। "श्रद्धा इड़ा से कहती है कि "सिर चढ़ी रही पाया न हृदय"। क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता था कि "रस पगी रही पाई न बुद्धि"? जब दोनों अलग-अलग सत्ताएँ करके रखी गयी हैं तब एक को दूसरी से शून्य कहना, और दूसरी को पहली से शून्य न कहना, गड़बड़ में डालता है।"

इस आक्षेप का छोटा-सा उत्तर यह है कि शुक्लजी जिसे मल कहते हैं

उसका ज्ञान 'प्रसाद' जी को था। कामायनी ने इड़ा के हाथ जब कुमार को सौंपा है तो जीवन की समरसता और सफलता के लिए उसने श्रद्धा और बुद्धि दोनों के योग पर जोर दिया है। एक के बिना दूसरा अधूरा ही है। इसी से उसने कहा है—

"यह तर्कमयी तू श्रद्धामय,
तू मननशील कर कार्य अभय।"

'रहस्य' शीर्षक सर्ग में श्रद्धा ने मनु को इच्छा का रागारुण कर्म का श्यामल और ज्ञान का रजतोज्ज्वल तीन लोक दिखाये हैं, और उनके सामंजस्य में जीवन का वास्तविक सुख बताया है। 'केवल इच्छा' पंगु है। उसे कर्म का सहारा चाहिए। 'केवल कर्म' अन्धा है। उस पर विवेक या ज्ञान का नियन्त्रण होना चाहिए। मनु दोनों स्थितियों को देख चुके हैं। 'केवल ज्ञान' भी संसार में विषमता फैलाने वाला है क्योंकि ज्ञानी जब 'इच्छाओं को झुठलाते हैं' तो संसार का विकास कैसे होगा?

प्रसाद जी के नाटकों की क्लिष्ट उक्तियों, उनमें आये गीतों तथा उनके काव्य-ग्रन्थों—विशेष कर 'आंसू' और 'कामायनी' को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ तक भाषा और भावाभिव्यक्ति का सम्बन्ध है वहाँ 'प्रसाद' जी का अपना एक स्टैंडर्ड था जिससे नीचे वे उतरना न चाहते थे। मैंने कहीं यह भी लिखा देखा है कि 'कामायनी' कालान्तर में एक लोक-प्रिय रचना होगी। मेरा अपना विश्वास है कि 'कामायनी' को चाहे और कुछ गौरव प्राप्त हो, पर लोक-प्रियता का यश उस अर्थ में उसे न मिलेगा जिस अर्थ में तुलसी, सूर, मैथिलीशरण गुप्त और प्रेमचन्दजी की रचनाओं को मिला है। कामायनी साहित्यिकों की प्रिय वस्तु रहेगी। लोक-दृष्टि से परखें तो 'प्रसाद' जी में 'प्रसाद' गुण की कमी है।

प्रसादजी के मस्तिष्क की एक विशेषता है नारी को कभी-कभी पुल्लिङ्ग में सम्बोधन करना। उर्दू में यह अत्यन्त सामान्य प्रवृत्ति है, पर हिन्दी के कवियों में यह रोग 'प्रसाद' जी ही को था। आँसू में भी इसका आभास मिलता है। 'कामायनी' में भी श्रद्धा को मनु पुल्लिङ्ग में सम्बोधन करते हैं।

इसका इसके अतिरिक्त और क्या उत्तर हो सकता है कि कभी-कभी इस प्रकार बोलना उन्हें सम्भवतः प्यारा लगता हो। लिङ्ग और वचन के साथ भी वे पूरी स्वतन्त्रता लेते थे। कामायनी में ही आधे दर्जन से ऊपर ऐसे स्थल हैं जहाँ लिङ्गवचन की गड़बड़ी मिलेगी। पता नहीं इस विषय में वे कवि-स्वातन्त्र्य का प्रयोग करते थे या 'पन्त' जी के समान उनकी दृष्टि में भी शब्दों की 'श्री सुकुमारता' आदि बिखर जाती थीं। आज तक मेरी समझ में यह नहीं आया। कि स्कन्दगुप्त नाटक में उन्होंने 'खिले सूल सब गिरा दिया है' के स्थान में 'खिले फूल सब गिरा दिया है' क्यों नहीं किया। इससे वचन का दोष भी दूर हो जाता और इस पंक्ति का 'हृदय धूल में मिला दिया है' से भी सुन्दर अर्थ बैठ जाता।

'कामायनी' हिन्दी के एक प्रतिभाशाली कवि की अत्यन्त प्रौढ़ रचना है और चिन्ता, आशा, प्रेम, ईर्ष्या, क्षमा, आनन्द आदि सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक भावनाओं को समेटने के कारण प्रभातकालीन वायु की भाँति इसका रस नित्य नवीन रहेगा।

कामायनी—इड़ा-मीमांसा



पुस्तक का 'आमुख' भाग—जिसे उसकी भूमिका कहिये—बड़ा ही सुन्दर और रोचक है। कवि ने उसमें स्वीकार किया है कि कल्पना को भी स्थान दिया गया है। कवि के अनुसार, सृष्टि के अन्तकाल में, प्रलय के अवसर पर, मनु मात्र बच गये। प्रलय से वे बड़े चिन्तित हो उठे। उनका बना-बनाया खेल बिगड़ गया था। पर उनकी चिन्ता अथवा निराशा आशा में परिणत होने लगी। पानी छँटने लगा—आशा का उदय हुआ। आशा के बाद ईश्वर की प्रेरणा से उनको साथिन मिली—श्रद्धा। आशावान् मनु श्रद्धावान् हो गये। श्रद्धा से उनका परम प्रेम था। वह उनकी एक मात्र सहचरी थी। पर इस सहवास की भी अति हो गयी। होम और उपासना चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। उसका प्रत्यावर्तन हुआ। मनु में काम-वासना का उदय हुआ और इसका कारण थी सुन्दरी इड़ा, जिसका मनु के जीवन में, श्रद्धा के बाद, यकायक प्रवेश हुआ। श्रद्धा से मन हट गया। इड़ा ने सब कुछ पा लिया। श्रद्धा वियोगिनी हो गयी। उधर मनु की वासना चरम-सीमा को पहुँच गयी और उसकी चरमता के बाद लज्जा का प्रवेश हुआ। मनु अपनी वासना से क्षुब्ध हो उठे। उन्हें लाज लगी। वे मन के भीतर शान्ति खोजने लगे—उनका मन उन्हें श्रद्धा की ओर खींच ले गया। पर श्रद्धा प्रतिकार नहीं चाहती थी। वह मनु के स्नेह की भूखी थी। उसने इड़ा को भगा नहीं दिया। पर मनु अब सृष्टि के विकास का रहस्य समझ चुके थे। सृष्टि के पिता ने अपने जीवन में मनोविकार के ये नाटक खेले और सृष्टि की ओर आज तक उनकी सन्तान यही नाटक खेलती चली आ रही है। निराशा, आशा, श्रद्धा, अति कामवासना, लज्जा, वैराग्य!! प्रकृति का यही क्रम है। शक्ति की यही महत्ता है। मन चञ्चल और माया-मलिन है। मनु भी उसी की

आरम्भिक परीक्षा में परखे गये। पर अन्त में श्रद्धा की जय हुई—श्रद्धा ही जीवन का मूल मन्त्र है। उसने मनु पर भी विजय पाई। अतः श्रद्धा ही इस काव्य की मुख्य पात्रिणी है। अतएव उसी के नाम पर इस ग्रन्थ का नाम 'कामायनी' है। श्रद्धा का नाम 'कामायनी' वैदिक है। सायण के अनुसार 'कामगोत्रजा श्रद्धा नामर्षिका'—अतः कामायनी। मनु को आदम और श्रद्धा को 'ईव' कहने में कोई आपत्ति नहीं है। अतएव यह महाकाव्य उस समय का चित्र है जब मनो-भाव-मनोवेग का तराजू आज जैसा न था, जब कि प्राकृतिक सौन्दर्य की सहायता से भी विषय बहलाया नहीं जा सकता था, जब वीभत्स से सुन्दर निकालना था—अतएव कितना कठिन विषय है और कवि ने उसे लिखने के लिए अपना हृदय किस प्रकार निचोड़ा होगा।

इड़ा-मीमांसा

पर, इसका काफी पृष्ठों वाला आमुख एक तर्क उत्पन्न कर देता है। उससे हमें उत्कंठा होती है कि यह जानें कि यह कथा कवि की कल्पना है, या वैदिक-सत्य। यह वैदिक कथा केवल शत-पथ-ब्राह्मण के आधार पर जानी जा सकती है। उसमें इड़ा का परिचय है किन्तु उससे यह प्रकट होता है कि श्रद्धा के साथ मनु ने जो वैदिक हवन किये थे, उसकी हवि से पल कर तथा उत्पन्न होकर इड़ा ने जन्म लिया था। अतएव उसने अपने परिचय के समय मनु से कहा था—'तव दुहिता', तुम्हारी लड़की हूँ। पर मनु उस पर आसक्त थे। यह बात यहीं समाप्त हो गई। छान्दोग्य-उपनिषद में हमने श्रद्धा के विषय में भी बड़ा महत्वपूर्ण उल्लेख पाया, जिससे उसकी प्राथमिक महत्ता प्रकट होती है। लिखा है—

"यदावैश्रद्धधाति अत्र मनुते-नाश्रद्धधा मनुते।"

देवी भागवत में भी श्रद्धा तथा इड़ा का जिक्र है। ये दोनों भगवती की स्वरूप शक्तियाँ निरवलम्ब मनु को मार्ग दिखलाने तथा सृष्टि के लिए प्रेरित हुई थीं। श्री विष्णु पुराण में उसके चतुर्थ अंश में ८–१० श्लोक इस सम्बन्ध में वर्णित हैं। उनसे यह विषय बहुत ग्राह्य हो जाता है। लिखा है—

"इष्टिं च मित्रावरुणयोर्मनुः पुत्रकामश्चकार। तत्र तावदपहृते होतुरपचारादिला नाम कन्या बभूव। सैव च मित्रा वरुणयोः प्रसादात्सद्युम्नो नाम मनोः पुत्रो मैत्रेय आसीत्।"

"मनु ने पुत्र की इच्छा से मित्रावरुण नामक दो देवताओं के यज्ञ का अनुष्ठान किया। किन्तु होता के विपरीत सङ्कल्प से यज्ञ में विपर्य्यय हो जाने से उनके 'इला' नाम की कन्या हुई। मित्रावरुण की कृपा से वह सद्युम्न नाम का उनका पुत्र हुई। फिर महादेवजी के कोप से यह चन्द्रमा के पुत्र, बुध के आश्रम के निकट स्त्री होकर घूमने लगी। बुध ने अनुरक्त होकर उस स्त्री से पुरुरवा नामक पुत्र उत्पन्न किया।"

इस कथा से तथा शतपथ ब्राह्मण की कथा से इतना सामञ्जस्य जरूर है कि इला या इड़ा मनु की पुत्री थी। अतएव प्रसादजी ने आमुख में उसके विषय में जो लिखा है, वह पूर्ण सन्तोषप्रद नहीं। स्यात् उन्होंने विष्णुपुराण की ऊपर लिखी पंक्तियाँ न देखी हों, वरना जिस स्त्री की इतनी छीछालेदर हुई कि लड़की लड़का-लड़की बनती फिरी, उसी को मनु की प्रेयसी न बना देते। पर, यह तो अपना मत है।

प्रसाद के नाटक

मूल-चेतना

शान्त गम्भीर सागर जो अपनी आकुल तरङ्गों को दबा कर धूप में मुस्करा उठा है, या फिर गहन आकाश जो झंझा और विद्युत को हृदय में समाकर चाँदनी की हँसी हँस रहा है—ऐसा ही कुछ प्रसाद का व्यक्तित्व था। प्रसाद अपने मूल रूप में कवि थे, जीवन में उन्हें आनन्द इष्ट था, इसलिए वे शिव के उपासक थे। बस शिव की उपासना उनके मन का विश्लेषण करने के लिए पर्याप्त है। शिव का शिवत्व इसी में है कि वे हलाहल को पान कर गए और उसको पचा कर फिर भी शिव ही बने रहे, उनका कण्ठ चाहे नीला हो गया हो, परन्तु मुख पर वही आनन्द का शान्त प्रकाश बना रहा। प्रसाद के जीवन का आदर्श यही था, वे बड़े गहरे जीवन-द्रष्टा थे। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने देखा और सहा था, यह जहर उनके प्राणों में एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था—उनकी आत्मा जैसे आलोड़ित हो उठी हो। इस आलोड़न को दबाते हुए आग्रह के साथ आनन्द की उपासना करना ही उनके आदर्श की व्याख्या करता है—और यही उनके साहित्य की मूल-चेतना है।

ऐसा व्यक्ति, यह स्पष्ट है, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्त्व नहीं देगा—प्रायः वह उसको छोड़ कहीं अन्यत्र आनन्द की खोज करेगा—एक शब्द में, उसका दृष्टिकोण रोमान्टिक होना अनिवार्य है। वर्तमान से विक्षुब्ध होने के कारण (जैसा रोमान्टिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है) वह पुरातन की ओर भागेगा—या कल्पना-लोक की ओर। प्रसाद का यही रोमान्टिक दृष्टिकोण उनकी सांस्कृतिक चेतना के लिए उत्तरदायी है।

नाटकों का आधार—

प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है। आर्य संस्कृति में उन्हें गहन आस्था थी, इसीलिए उनके नाटकों में भारत के इतिहास का प्रायः वही परिच्छेद है (चन्द्रगुप्त मौर्य—हर्ष) जिसमें उसकी संस्कृति अपने पूर्ण वैभव पर थी—ब्राह्मण और बौद्ध संस्कृतियों के संघर्ष से जब उसका स्वरूप प्रखर हो उठा था।

एक ओर चाणक्य ब्राह्मण-धर्म की व्याख्या करता हुआ घोषित करता है—

"ब्राह्मण एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है—वह अपनी रक्षा के लिए, पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का सङ्गठन कर लेगा।"

दूसरी ओर भगवान बुद्ध की शीतल वाणी सुनाई देती है—

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है, इस दुख-समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुम ने हँसा दिया तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे।...... विश्व-मैत्री हो जायगी, विश्व भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा।"

इन्हीं दोनों धूपछाँही डोरों से बुना हुआ प्रसाद के नाटकों का आधार है।

प्रसादजी प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य्य पर मुग्ध थे। स्वभाव से चिन्ताशील और कल्पना-प्रिय होने के कारण वे उसी युग में रहते थे। कोलाहल की अवनी तज कर जब वे भुलावे का आह्वान करते हुए विराम-स्थल की खोज करते होंगे, उस समय यह रंगीन अतीत उन्हें सचमुच बड़े वेग से आकर्षित करता होगा। इसीलिए उनके नाटकों में पुनरोत्थान की प्रवृत्ति बड़ी सजग रहती है। कामना का रूपक इसका मुखर साक्षी है। वे विदेशी छाया से आच्छादित भारतीय जीवन को फिर से उसी स्वर्ग की ओर प्रेरित करने की बात सोचा करते थे। उन्होंने देखा कि हमारा वर्तमान ही नहीं भूत इतिहास भी विदेशी प्रभाव की छाया में मलिन हो गया है, अतः फिर से उसका सच्चा स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए, उन्होंने भारतीय ग्रन्थों के ही आधार

पर ऐतिहासिक अन्वेषण किये। उनके पुरातत्व-ज्ञान का आधार, प्राचीन शिला-लेख, पाणिनि-व्याकरण, पतञ्जलि-योग, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कथासरित्सागर, राजतरङ्गिणी, पुराण, प्रचीन-काव्य-ग्रन्थ आदि ही हैं। प्रसाद की यह जिज्ञासा गहरी थी, उनको अतीत के लिए सिर्फ रोमाण्टिक मोह ही नहीं था—चन्द्रगुप्त मौर्य्य, कालिदास, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी आदि के विषय में उनकी खोजें अपना स्वतन्त्र महत्व रखती हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के बिखरे अवयवों को जोड़ कर उन्होंने अपनी भावुकता; चिन्ता और कल्पना द्वारा उसमें प्राण-सञ्चार किया।

उन्होंने वातावरण की सृष्टि इतने सजीव रूप में की है कि मौर्य्य एवं गुप्तकालीन भारतीय जीवन हमारे सामने चित्रित हो जाता है—फिर से हम आज की पश्चिम-मिश्र-संस्कृति और उससे पहले की मुस्लिम संस्कृति और उससे भी पूर्व की सामन्तीय संस्कृति इन तीनों को लाँघ कर आर्य-संस्कृति की छाया में पहुँच जाते हैं। यह पुनरोत्थान इतने सहज ढङ्ग से होता है कि दो हजार वर्ष का महान अन्तराय एक साथ तिरोहित हो जाता है। प्रसाद का दृश्य-विधान ही नहीं, उनके पात्रों के नाम, वेशभूषा, चरित्र और बात-चीत सभी देश-काल के अनुकूल हैं। आम्भीक, अन्तर्वेद, गोपाद्रि, महाबलाधिकृत, कुमारामात्य, आदि शब्दों का प्रयोग इस सांस्कृतिक वातावरण को उपस्थित करने का अमोघ साधन है।

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि युग-जीवन या युग-धर्म का प्रभाव प्रसाद जी पर बिलकुल नहीं है। मैंने जैसा अभी निवेदन किया, प्रसाद जी गहरे जीवन-द्रष्टा थे। उनका आधुनिक जीवन का भी अध्ययन असाधारण था—अतएव उनके नाटकों में आज की समस्याएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित मिलती हैं। चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में राष्ट्रीयता एवं देशभक्ति का भव्य आदर्श है। युद्ध में जब सिकन्दर एक बार आहत होकर गिर जाता है, उस समय सिंहरण के कण्ठ में बैठ कर प्रसाद जी की देशभक्ति अमर स्वरों में फूट उठती है—

मालव सैनिक—सेनापति, रक्तपात का बदला! इस नृशंस ने निरीह जनता का अकारण वध किया है। प्रतिशोध?

सिंहरण—ठहरो, मालव वीरो ! ठहरो, यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युत्तर है।

यह प्रसङ्ग इतिहास के अनुकूल हो अथवा नहीं, परन्तु इसमें बोलती हुई देशभक्ति की भावना एकान्त दिव्य है। देशभक्ति का इतना शुद्ध और पवित्र रूप मैंने हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं देखा। आजकी प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता पर भी चन्द्रगुप्त में अनेकों तीखे व्यंग्य हैं। चाणक्य की नीति का प्रमुख तत्व एक-राष्ट्र की स्थापना ही तो है—

'मालव और मागध को भूलकर जब आर्यावर्त्त का नाम लोगे तभी यह मिलेगा।'

'आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मणों में भेद न करेंगे।'

इसके अतिरिक्त हमारी अन्य समस्याएँ जैसे दाम्पत्य-सम्बन्ध-विच्छेद, धार्मिक अथवा जातीय दम्भ आदि का भी प्रौढ़ विवेचन स्थान-स्थान पर मिलता है। परन्तु प्रसाद की कला का यह चमत्कार है कि ये समस्याएँ उस पुरातन वातावरण में पूरी तरह से फिट करदी गई हैं। जो लोग इस प्रकार के प्रभाव को ऐतिहासिक असङ्गति मानते हैं, वे वास्तव में मानव भावनाओं की चिरन्तनता को ग्रहण करने में अपनी अक्षमता मात्र प्रकट करते हैं।

सुख-दुख की भावना—

प्रसाद के नाटकों के तत्व को समझने के लिए उनकी सुख-दुख की भावना को ग्रहण करना अनिवार्य है। उनके नाटक सभी सुखान्त हैं, परन्तु क्या उनको समाप्त करने पर पाठक के मन में सुख और शान्ति का प्रस्फुरण होता है? नहीं! नाटक के ऊपर दुख की छाया आदि से अन्त तक पड़ी रहती है और उसके मूल में एक करुण चेतना सुख की तह में छिपी हुई मिलती है। प्रो० शिलीमुख ने बिल्कुल ठीक कहा है कि प्रसाद की सुखान्त भावना प्रायः वैराग्य-पूर्ण शान्ति होती है। इसका कारण है उनके जीवन की वही करुण जिज्ञासा जो उनके प्राणों को सदैव विलोड़ित करती रहती थी—

क्यारियाँ हरी-भरी हो जाती हैं। सौन्दर्य का कोकिल 'कौन ?' कह कर सब को रोकने-टोकने लगता है, पुकारने लगता है। राजकुमारी ? फिर उसी में प्रेम का मुकुल लग जाता है, आँसू-भरी स्मृतियाँ मकरन्द-सी उसमें छिपी रहती हैं।"

२—"धड़कते हुए रमणी-वक्ष पर हाथ रख कर, उस कन्पन में स्वर मिला कर कामदेव गाता है। और राजकुमारी ! वही काम-संगीत की तान सौन्दर्य की लहर बन कर युवतियों के मुख में लज्जा और स्वास्थ्य की लाली चढ़ाया करती है।"

अब सारभूत प्रभाव लीजिये—वह न तो वास्तविकता की माँग पूरी करता है और न किसी आदर्श की पूर्ति। उसके पीछे भी सिद्धान्त या नहीं काव्य का आग्रह है। देखिए स्कन्दगुप्त का अन्तिम दृश्य।

स्कन्दगुप्त—देवी यह न कहो ! जीवन के शेष दिन कर्म के अवसाद में बचे हुए हम दुखी लोग, एक दूसरे का मुँह देख कर काट लेंगे। हमने अन्तर की प्रेरणा से जो निष्ठुरता की थी, वह इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए। परन्तु इस नन्दन की वसन्त-श्री, इस अमरावती की शची, इस स्वर्ग की लक्ष्मी, तुम चली जाओ—ऐसा मैं किस मुँह से कहूँ (कुछ ठहर कर सोचते हुए) और किस वज्र कठोर हृदय से रोकूँ ?

देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ ! हत-भाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह !!

देवसेना—कष्ट हृदय की कसौटी है; तपस्या अग्नि है। सम्राट् ! यदि इतना भी न कर सके तो क्या ? सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए ! मेरे इस जीवन के देवता ! और उस जीवन के प्राप्य ! क्षमा !

(घुटने टेकती है, स्कन्द उसके सिर पर हाथ रखता है)

दोष—

प्रसाद के नाटकों के दोष शायद उनके गुणों से अधिक स्पष्ट हैं—सबसे

पहला दोष रंगमञ्च विषयक है। उनके नाटक में अभिनय की त्रुटियाँ हैं। उनमें युद्ध, अभियान आदि के ऐसे दृश्य हैं जो मञ्च पर काफी गड़बड़ करेंगे। दूसरे उनकी अपरिवर्तनशील गम्भीर भाषा में अभिनयोचित चांचल्य नहीं है। अनावश्यक दृश्यों की संख्या भी बहुत है। दूसरा बड़ा दोष है एकता (Unity) का अभाव। उसके लिए शायद उत्तरदायी है प्रसाद के मन में चलता हुआ सुख-दुख का संघर्ष, जिसके समाधान का प्रयत्न वे अन्त तक करते रहे थे। राज्यश्री या ध्रुवस्वामिनी में वस्तु-विस्तार कम होने से यह दोष नहीं आया ध्रुवस्वामिनी का सारभूत प्रभाव तो पूर्णतः एकसार है परन्तु स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे बड़े नाटकों में घटना बाहुल्य में फँस कर नाटक की यूनिटी अस्तव्यस्त हो गई है। इन दोनों नाटकों में ऐसी घटनाएँ और पात्र हैं जो प्रभाव की एकता के लिए अनावश्यक ही नहीं वरन् घातक हैं। स्कन्दगुप्त में धातुसेन, पृथ्वीसेन, मातृगुप्त, मुद्गल और उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रसंगों का क्या प्रयोजन है? 'चन्द्रगुप्त' में चन्द्रगुप्त का सिंहासनारोहण बीच में इतना महत्वपूर्ण हो जाता है कि कथावस्तु वहाँ एक बार दम तोड़ कर फिर उठती है। तीसरा प्रमुख दोष यह है कि वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भद्दे जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थान पर नाटककार को घटनाओं की गति विधि सँभालना कठिन हो गया है और ऐसा करने के लिये उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय भूमि फाड़ कर उपस्थित कर देना पड़ा है अथवा किसी का जबरदस्ती गला घोट देना पड़ा है। यह बड़े नाटकों में सर्वत्र हुआ है।

इस प्रकार इन नाटकों का महत्व असम है। एक ओर जहाँ पाठक उन के दोषों को देखकर बिक्षुब्ध हो उठता है, दूसरी ओर उनकी शक्ति और कविता से अभिभूत हुए बिना भी नहीं रह सकता। ये नाटक अंशों में जितने महान् हैं सम्पूर्ण-रूप में उतने नहीं। प्रसाद की ट्रेजेडी की भावना, उनकी सांस्कृतिक पुनरोत्थान की चेतना, उनके महान्-कोमल चरित्र, उनके विराट् मधुर दृश्य, उनका काव्य-स्पर्श हिन्दी में तो अद्वितीय है ही, अन्य भाषाओं के नाटकों की तुलना में भी उसकी ज्योति मलीन नहीं पड़ सकती।

प्रसाद जी के नाटक और पात्र-कल्पाना

प्रसादजी ने द्विवेदी युग के पूर्व आरम्भ काल में अपनी रचनाओं से हिन्दी का भंडार भरना आरम्भ किया। बेताव और राधेश्याम कथावाचक के नाटकों की व्यवसायी रंगमंच पर धूम थी; द्विजेन्द्र के बंगाली नाटकों के हिन्दी अनुवादों की ओर पढ़ी-लिखी जनता आकृष्ट थी। रंगमंच के लिए लिखी गई रचनायें साहित्य की उन्नत मनीषिता से रहित थीं, बंगाली नाटक हिन्दी की मौलिक मेधा से। भारतेन्दु के उदय, कांग्रेस की स्थापना, आर्य-समाज के उत्थान से जो भारतीय पुनर्जागरण आरम्भ हुआ था, प्रसादजी के समय में उस का द्वितीय उत्कर्ष दिखलाई पड़ता है। भारत के इतिहास का तब केवल भावनोत्तेजक अध्ययन ही नहीं वैज्ञानिक परिशीलन भी हो उठा था, और इसकी यथार्थ समीक्षा भी। प्रसादजी में यह प्रवृत्ति पूरी जाग्रत है। उनके नाटक अधिकांश ऐतिहासिक हैं, पुराणों से ग्रहण किए हुए कथानक भी ऐतिहासिक धरातल पर हैं; इन नाटकों की भूमिकायें इतिहास की वैज्ञानिक शोध के सुन्दर उदाहरण हैं।

बीस वर्ष से पूर्व की अवस्था में—सन् १६०६ से पहले के प्रसादजी के दो छोटे नाटक 'प्रायश्चित' और 'सज्जन' हैं। 'प्रायश्चित' में जयचन्द द्वारा पृथ्वीराज-विरोध के लिए प्रायश्चित की कल्पना है। जयचन्द सैनप से कह रहा है, "कन्नौज निवासियों से कह देना कि तुम्हारे पापी राजा ने, जिसकी तुम लोगों ने बहुत सी आज्ञाएँ मानी हैं एक अन्तिम प्रार्थना यह की है कि यदि हो सके तो शहाबुद्दीन का वध करके उसकी रक्तधारा से दो एक अंजुली, जयचन्द के नाम पर देना, क्योंकि पापियों को नरक में यही तो मिलता है।" जयचन्द गंगा में प्रवेश कर ये शब्द कहता है।

"देवि! एक तो मैं नहीं कर सका पर दूसरा तो मेरे वश में है, वह श्चित करता हूँ। देशद्रोह के लिए आत्मवध"*।

इस नाटक में अलौकिक तत्वों का सहारा लिया गया है। जयचन्द को चित के लिए शकुन बताने वाली दो विद्याधरियाँ हैं।

'सज्जन' में महाभारत का एक प्रसंग है, दुर्योधन और उसके साथियों को र्वों ने पकड़ लिया था और उसे उन्हीं पाण्डवों ने उनसे मुक्त कराया, हें सताने वह गया था। युधिष्ठिर की सज्जनता को प्रकाशित किया गया है।

इसके बाद प्रसादजी के नाटकों में उत्तरोत्तर श्री बढ़ती गई। विशाख, श्री, जनमेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी, स्कन्दगुप्त, चंद्रगुप्त—ऐतिहासिक नाटक हैं और एक घूँट तथा कामना का कथानक लेखक का ल्पित है। उपरोक्त ऐतिहासिक नाटकों में 'विशाख' का काश्मीर के इतिहास म्बन्ध है। 'राज्यश्री' का सम्राट हर्षवर्द्धन से। 'नागयज्ञ' का कथानक ाभारत में से है। 'अजातशत्रु' महात्मा बुद्ध का समकालीन है। 'ध्रुवस्वामिनी' और 'स्कन्दगुप्त' गुप्त कालीन, तथा 'चन्द्रगुप्त' मौर्य कालीन।

सभी नाटक सीधे राजतन्त्र से सम्बन्धित हैं और किसी न किसी राजकीय थल-पुथल और अशान्ति की कहानी कहते हैं। द्विजेन्द्र ने अधिकांश मुगल-कालीन कथाओं पर अपने नाटक खड़े किए, प्रसादजी ने भारतीय इतिहास का वह युग चुना, जो मुसलमान काल से ऊपर था। जिसमें अविकृत भारतीय संस्कृति का चित्र है। सभी में किसी न किसी उथल-पुथल का उद्घाटन किया गया है, फलतः षड्यंत्र, विद्रोह, रक्त और अनेकों संघर्ष इन नाटकों में मिलते हैं। नाटककार ने ऐसे ही घोर विगर्हणा और राजनैतिक पतन के ऐतिहासिक संधिकाल के दृश्यों में से भारतीय चरित्र को महानता और राष्ट्रीय संदेश का आविर्भाव किया है। प्रसादजी के इन नाटकों में भारतीय इतिहास के विविध निर्मायक तत्व सजीव हो उठे हैं।

राजतन्त्र से धर्म की समस्यायें गुथी हुई हैं। जिस धर्म को नाटकों में

---

* यह एक प्रायश्चित था "जामातृवध के लिए शत्रुवध"।

अपने विविध रूपों में स्थान मिला है, वह मुख्यतः बौद्ध धर्म है। 'विशाख' में हमें उसके ह्रास का चित्र मिलता है। कबीर मठ का महन्त सत्यशील लालची, रूपलिप्स सब कुछ है। एक दूसरा भिक्षु महापिङ्गल के कहने पर चैत्य का देवता बनकर चन्द्रलेखा को नरदेव की रानी बनने की प्रेरणा देने को तत्पर हो जाता है, फिर तान्त्रिक बनकर तरला का शेष धन लेकर चंपत हो जाता है। 'राज्यश्री' में शान्तिभिक्षु को इसी प्रकार स्खलित होकर दस्यु तक बनते देखते हैं। 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' में प्रपंचबुद्धि कापालिक प्रपंच में फँसा हुआ मिलता है। इसके साथ ही 'अजातशत्रु' में बुद्ध की महान महिमा परिव्याप्त है, 'स्कन्दगुप्त' में भी प्रपंचबुद्धि के विपरीत धातुसेन और प्रख्यात-कीर्ति हैं, 'राज्यश्री' में सुमनध्वज और स्वयं हर्ष बौद्ध धर्म की उज्ज्वल दिशा प्रगट करते हैं। बौद्धों के यथार्थ रूप के प्रति लेखक की सम्यक् सहानुभूति है।

एक अन्य तत्व है जातीय संघर्ष। नागयज्ञ में यह बहुत ही प्रबल हो गया है। आर्य जाति और नागजाति के पारस्परिक वैमनस्य और दम्भ का रूप इसमें उपस्थित किया गया है। 'विशाख' में भी यह संघर्ष विद्यमान है पर यह केवल संकेत बनकर ही रह गया है, कथा ने 'नागयज्ञ' की भाँति उसे अपना भोज्य नहीं बनाया। 'स्कन्दगुप्त' में हूणों के आक्रमण का प्रासंगिक वर्णन है।

नाटककार ने इतनी प्रपंचपूर्ण भूमिका में से मानवता का उदय कराया है।

आरम्भिक नाटकों के कथासूत्र सरल हैं; फिर वे जटिल होते जाते हैं और यह जटिलता 'चन्द्रगुप्त' में पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। 'विशाख' में 'चन्द्रलेखा' को लेकर संघर्ष उपस्थित हुआ है। पहले तो बौद्ध महन्त उस पर प्रलुब्ध हो जाता है, फिर राजा नरदेव। राजा तो उसे उसके पति विशाख से छीन लेता है और उसके लिए किसी भी सीमा तक भयानक काण्ड करने के लिए तत्पर दीखता है। प्रेमानन्द की उदारता और सेवा का भाव और जनता का विद्रोह चन्द्रलेखा की रक्षा करता है और वस्तुस्थिति सम बनती है। 'राज्यश्री' में एक सूत्र तो राज्यश्री का है। उसका पति मारा जाता है।

पहले इसे मालवराज देवगुप्त अपने अधिकार में करना चाहता है। फिर दस्यु उसे छुड़ाते हैं, दिवाकर मित्र दस्युओं से उसकी रक्षा करता है, निराश होकर वह चितापर जल मरना चाहती है। तभी हर्ष आता है। वह हर्ष के साथ राज्य करती है और प्रयाग में वे सर्वस्वदान करते हैं। दूसरा सूत्र 'शांतिदेव' और सुरमा का है। शांति रूप और धन के उच्चाटन से सुरमा को छोड़ राज्यश्री के लिए लपकता है, दस्यु बनता है, सुरमा भी च्युत होकर महत्वाकांक्षा में देवगुप्त के साथ रानी बनती है। शांति सुरमा को भगा लाता है। वे दोनों गायक बनते हैं। नरेन्द्रगुप्त के षड्यंत्र के साधन बन राज्यवर्धन की हत्या करके भागते हैं। सुएनच्यांग को पकड़कर उससे धन चाहते हैं या रक्त। दैवी शक्ति से बाध्य हो वे उसे छोड़ देते हैं। वे जब प्रयाग लूट करने जाते हैं, पकड़ लिए जाते हैं और हर्ष तथा राज्यश्री से क्षमा पाते हैं। ये दोनों कथाएँ एक दूसरे से उलझती चलती हैं।

'अजातशत्रु' में जटिलता और भी बढ़ती है। एक तो अजातशत्रु सम्बन्धी सूत्र है। छलना अजातशत्रु को राजा बना देती है और बिम्बसार तथा वासवी को बन्दी बना लेती है। इस पर वासवी का भाई प्रसेनजित मुद्रा दान देता है। अजात हार जाता है और बन्दी होता है। वासवी उसे छुड़ा लाती है। दूसरा सूत्र विरुद्धक का है। उसकी उद्दंडता से रुष्ट हो उसका पिता कोशल नरेश प्रसेनजित उसे दासी पुत्र बता, उसे राज्याधिकार से वंचित घोषित कर देता हैं, प्रतिशोध के लिए शैलेन्द्र साहसिक बन जाता है। मल्लिका पर वह मोहित है, उसके प्रलोभन से उसके पति बंधुल को मार डालता है, महत्वाकांक्षी श्यामा को अपनाता है, जो उसे क़ैद से छुड़ाती है, पर शैलेन्द्र अवसर पाकर उससे भी पिंड छुड़ाता है, पर अजातशत्रु का पक्ष लेकर कोशल से युद्ध करता है, घायल होने पर मल्लिका की सुश्रूषा से अच्छा होता है और मल्लिका के ही प्रयत्न से वह पुनः अपना अधिकार प्राप्त करता है।

तीसरी कहानी मागंधी की है। बुद्ध भगवान् के ठुकराये जाने पर वह उदयन की रानी बनती है, वहाँ पद्मावती को नीचा दिखाने के उद्योग में स्वयं

षडयंत्र का शिकार बन जाने के कारण, छिपकर भाग निकलती है। और श्यामा वेश्या बन कर विरुद्धक को फँसाती है, उसकी यथार्थ सहायता करती है, पर विरुद्धक उसका गला घोटकर भाग जाता है, भगवान बुद्ध उसे प्राण-दान देते हैं वह मल्लिका के आश्रम में आम्रपाली बन जाती है। वहीं भगवान तथागत की कृपा उसे प्राप्त होती है, और वह संघ की शरण में चली जाती है।

चौथी कहानी मल्लिका की है—विरुद्धक उसे चाहता है पर बंधुल से उसका विवाह हो जाता है। बंधुल की प्रसेनजित की प्रेरणा से हत्या होती है पर मल्लिका उसे क्षमा करती है। बुद्ध धर्म में दीक्षित है वह, सब को क्षमा करती है विरुद्धक को और अन्त में विरुद्धक को प्रसेनजित द्वारा क्षमा कराती है।

पाँचवीं कहानी उदयन की है। वह मागंधी के भ्रम में पड़ कर पद्मावती को मारने को सन्नद्ध हो जाता है पर भ्रम का उद्घाटन हो जाता है और वासवदत्ता के उद्योग से पद्मावती के सत्य की रक्षा हो जाती है।

छठी कहानी देवदत्त और भगवान बुद्ध की है। देवदत्त भगवान बुद्ध से प्रतिद्वन्द्विता ठानता है, उन्हें स्थान-स्थान पर नीचा दिखाना चाहता है, प्रति-पद पर उसे ही नीचा देखना पड़ता है।

'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' में इस अजातशत्रु से भी अधिक जटिलता आ जाती है। एक कहानी स्कन्द गुप्त की है, दूसरी पुरगुप्त और भटार्क की है—स्कन्दगुप्त मगध से असन्तुष्ट है, फिर भी साम्राज्य रक्षा के लिए मालव की सहायता करता है, मालव में सम्राट पद प्राप्त करता है, फिर षडयन्त्र में घिर कर कुछ काल के लिए लुप्त हो जाता है। उसका पुनरोदय होता है और साम्राज्य प्राप्त करता है। पुरगुप्त, अनन्तदेवी, भटार्क और प्रपञ्चबुद्धि के हाथ का खिलौना बना हुआ विविध षडयन्त्रों में लिप्त होता है, अन्त में स्कन्द उसे क्षमा करता है। तीसरा सूत्र देवसेना और विजया का, चौथा मातृ-गुप्त का, पाँचवा धातुसेन का, छठा शर्वनाग का है। यही नहीं कि विविध सूत्रों की गिनती अधिक है, पर इसमें ये छोटे बड़े सूत्र 'अजातशत्रु' की

अपेक्षा बहुत अधिक उलझे हुए हैं। किसी सूत्र का कोई भाग कहीं स्फुट होता है, कोई कहीं। उदाहरणार्थ देवसेना मालव में दिखाई पड़ती है, फिर प्रपंचबुद्धि की उग्रतारा के लिए बलि के लिए उसे नाटककार प्रस्तुत करता है, स्कन्दगुप्त के प्रेम में मग्न होते होते वह हमें कनिष्क स्तूप के पास पर्णदत्त के के साथ भिखारिन बनी दीखती है......इसी प्रकार सभी सूत्र उलझे हुए ।

और सब से अधिक जटिल है 'चन्द्रगुप्त' किन्तु उसकी जटिलता अन्य नाटकों से बिलकुल भिन्न है। इसमें विविध कथा-सूत्र अलग अलग प्रधावित होते हुए एक दूसरे से नहीं उलझते। इसकी जटिलता स्थूल कथा-सूत्रों में नहीं, कथा-सूत्र तो अत्यन्त घनिष्ट रूप से एक ही गति से बिना विशृंखलित हुए चला जाता है। यों इसमें कहानियाँ हैं:—१ राक्षस और सुवासिनी की, २ अलका और सिंहरण की, ३ शकटार की, ४ चन्द्रगुप्त और कल्याणी की, ५ मालविका और चन्द्रगुप्त की, ६ चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया की, ७ पर्वतेश्वर की और प्रधान कहानी है चन्द्रगुप्त : नन्द :: चाणक्य : राक्षस। दो बड़ी कहानियाँ इस एक नाटक में हैं। १. चन्द्रगुप्त द्वारा पंजाब की राज्य क्रान्ति में भाग लेकर सिकन्दर को परास्त करना और मगध का राज्य हस्तगत करना। २. मगध साम्राज्य हस्तगत कर लेने के पश्चात सिल्यूकस से उसकी रक्षा कराना और कार्नेलिया से विवाह तथा राक्षस की मन्त्री पद पर पुनः प्रतिष्ठा अथवा चाणक्य को सूत्र मान कर देखा जाय तो पहला भाग है उसकी बौद्धिक उत्तेजना का बढ़ते चले जाना, और दूसरा भाग है धीरे-धीरे शमन होना और पूर्ण त्यागी होना। इन विविध सूत्रों और कहानियों की ग्रथन में सूक्ष्म जटिलता है। स्थूल रूप से नाटक अन्य नाटकों से अधिक व्यवस्थित और संश्लिष्ट है।

इन सभी नाटकों पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि नाटककार के पात्र गनती में बहुत होते हुए भी स्वभाव भेद से प्रमुखता रखने वाले बहुत हैं और उन्हें प्रत्येक नाटक में देखा जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं क नमें क्रमशः विकास होता गया है। अब एक पात्र ऐसा मिलेगा,

जो अन्तर में विरक्ति का बीज लिए हुए बाह्यतः अनुरक्त है, और सब अधिक क्रियाशील दिखाई पड़ता है, जिसके मार्ग में पतन नाम की नहीं, सत्य को सम्भवतः वह ग्रहण कर चुका है और अपने चरित्र में बढ़ता हुआ उसका विकास ही करता जाता है—क्रमिक विकास, ऊँचाई तो आती जाती है, नीचाई नाम के लिए भी नहीं। विशाख में प्रेमानन्द मिलते हैं, 'राज्यश्री' में इस पात्र की दिवाकर मित्र में केवल झलक मिलती है, 'जनमेजय का नागयज्ञ' में यह पात्र वेद और वेद में झाँकता तो है पर जैसे शक्ति नहीं ग्रहण कर पाया, 'अजात शत्रु' में भगवान बुद्ध बन गया है 'स्कन्दगुप्त' में फिर यह ओझल हुआ है, इसके गुण स्कन्दगुप्त में ही झिलमिला उठे हैं, और कुछ क्षण के प्रख्यातकीर्ति में भी यह प्रत्यक्ष हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' में तो इसने पूर्णता चाणक्य के रूप में प्राप्त कर ली है। चाणक्य का चरित्र आरम्भ अन्त तक आदर्श और पूर्ण है; बल, गति, तेज और मेधा का उसमें परिपाक है; कहीं कहीं उसमें उसके स्वभाव-विरुद्ध वाक्-चांचल्य दीखत पर वहाँ सम्भवतः नाटककार के चाणक्य के दर्शन में उग्रता के साथ [illegible] का पुट मिल गया है, और उस मिश्र भाव को लेखनी यथार्थ नहीं कर पायी।

दूसरे प्रकार के वे पात्र हैं जो बाह्यतः विरक्त हैं और अन्तर में [illegible] और [illegible] के शिकार हैं। बाह्य विरक्ति उनमें परिस्थितियों के है। '[illegible]' में [illegible] [illegible], 'अजात' में प्रसुदत्त, 'नागय: [illegible], इसी प्रकार के चरित्र की अभिव्यक्ति करते हैं।

[illegible] प्रसाद जी के नाटकों में मिलता है, जिसमें बड़ी [illegible] है, किसी भी निश्चय पर बड़ी जल्दी पहुँचता है [illegible] नहीं होता, अत्यधिक [illegible], जो [illegible] कर जाता है—और इस सबका [illegible]। इस चरित्र में यथार्थ रोमांस, [illegible] है। इस [illegible] में नाटककार की बड़ी मोह है।

और इनमें दोनों में ही उसी ऐसे चंचल, किन्तु प्रबल चरित्र उद्भासित मिले हैं। 'विशाख' का भिक्षु इसी प्रबल चरित्र का बीज है, यद्यपि उसमें कोई Scruplo निदानक तत्त्व नहीं मिलता। 'विशाख' का भिक्षु तो एक प्रकार से चरित्र हीन है, हेय स्वार्थ में केन्द्रित और उसी में घिरा हुआ। पर हम उसे आवश्यकतानुसार कई रूप बदलते देखते हैं—पहले वह भिक्षु है, फिर राजकीय प्रलोभन में फँस कर धूर्त बनना चाहता है, और ठग साधु। यही चरित्र 'राज्यश्री' में शान्ति भिक्षु बनता है, वह भी पहले भिक्षु बनता है, फिर दस्यु बनता है इसी की अन्त में पुनः परिणति होती है। 'अजातशत्रु' में यही पात्र विरूढक होकर इस पात्रता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है—राज पुत्र है, फिर दस्यु शैलेन्द्र बनता है, अन्त में मल्लिका से क्षमा पाता है और राज्याधिकार भी। इसी चरित्र की भीषणता हमें 'स्कंदगुप्त' के भटार्क में मिलती है।

भटार्क में यह मौलिक पात्र अपना पहलू बदल गया है, मौलिक रूप में तो वह विविध सूत्रों में भूलता है और वास्तवः विविध रूप धारण करता है, अपने नाम भी बदलता है। भटार्क, भटार्क ही रहता है, कुटिलताओं से परिपूर्ण, यद्यपि चरित्र में दिव्य संभावनाएँ भी रखता है। महत्वाकांक्षा जो पात्र के मौलिक रूप में उसको एक नैतिक बल प्रदान करती थी—इसमें दुर्बलता बन गई है। दस्यु अथवा साहसिक होना प्रबल व्यक्तित्व का रूप है, गुप्त षडयन्त्रों में वैयक्तिक स्वार्थ के लिये लिप्त होना हीन और कायर भावना का द्योतक है। प्रसाद जी के इन पात्रों में यह विशेषता है कि ये पतन के चरम तल पर पहुँच कर ही परिणति प्राप्त करते हैं—ऐसे पात्रों की कुंजी नाटककार ने स्वयं 'राज्यश्री' में विकटघोष के द्वारा प्रगट कर दी है। वह सुरमा से कहता है—"पतन की चरम सीमा तक चलें, सुरमा! बीच में रुकने की आवश्यकता नहीं।" भटार्क का मृदु और शिष्ट संस्करण 'चन्द्रगुप्त' में राक्षस के रूप में प्रकट हुआ है। राक्षस के पास भटार्क की तलवार नहीं; फलतः वह सैनिकत्व और वह उद्दण्डता भी नहीं।

जिन बन्धुवर्मा और भीमवर्मा के पहले पहल 'स्कन्दगुप्त' में दर्शन होते हैं,

आत्यंतिक भक्ति के प्रतीक; वही 'चन्द्रगुप्त' में सिंहरण का अवतार धारण करते हैं। दोनों ही मालव हैं, कृतज्ञता की साक्षात मूर्ति और जिसे एक बार चाह लिया है उसके लिए सर्वस्व त्याग करने को प्रस्तुत।

नाटक के नायक बहुधा एक दार्शनिक उदासीनता से युक्त मिलते हैं, और उनमें अनूठी निष्क्रियता भी पायी जाती है। यह गुण 'अजातशत्रु' में तो बहुत ही प्रत्यक्ष है। विशाख भी संसार के झंझटों में पड़ता अवश्य है पर पुरुषार्थ के अवसर पर एक किंकर्तव्य विमूढ़ता कभी-कभी उसे भी घेर लेती है। स्कन्दगुप्त तो इसी उदासीनता को साथ लिये आगे बढ़ता है, और उसके कर्तृत्व से अधिक इस दार्शनिक उदासीनता का रूप हमें अधिक दिखाई पड़ता है। चन्द्रगुप्त स्पष्ट अपवाद है, यद्यपि वह चाणक्य पर आश्रित है, पर न तो उदासीन है और न कर्तृव्य-विहीन। उसका अपना प्रबल व्यक्तित्व और मेधा निरन्तर दिखाई पड़ती है, चाणक्य के समान मेधावान न होते हुए भी वह किसी के हाथ का खिलौना नहीं बना। शौर्य और तेज के साथ ही सहृदयता उसमें विद्यमान है।

ऐसा कहा जाता है कि प्रसादजी के पुरुष-पात्रों की अपेक्षा स्त्री-पात्र अधिक सफल और सजन तथा सजीव हैं। नाटक के सूत्र उनके द्वारा ही यथार्थ नाटकत्व ग्रहण करते हैं वे पुरुष-पात्रों को मन चाहा नाच नचाती हैं। प्रसादजी के नाटक स्त्रीत्व प्रधान है। 'चन्द्रगुप्त' को छोड़कर शेष के लिये यह कथन ठीक है। जो तेज 'अजातशत्रु' की छलना में और मल्लिका में है, 'राज्यश्री' की राज्यश्री में है, 'स्कन्दगुप्त' की अनन्तदेवी, देवसेना और विजया में है, वह पुरुषों में नहीं मिलता। पुरुष हारे-हारे से और व्यग्र से लगते हैं। कुछ नाटकों का तो मूल-संघर्ष स्त्री-प्रतिस्पर्द्धा में ही है। 'जनमेजय का नाग यज्ञ' मनसा और सुरमा के संघर्ष से ही आरम्भ होता है। सुरमा कहती है—"और मैंने विश्व-मैत्री तथा साम्य को आदर्श बनाकर नाग-परिणय का यह अपमान सहन किया है।" और आगे भी—

"बस, अब जातीय अपमान मैं सहन नहीं कर सकती। मनसा, मैं जाती हूँ।"

और मनसा कहती है अपने भाई वासुकि से—

"बस बस! कायरों की संख्या न बढ़ाओ। नागों के विश्वविश्रुत कुल में तुम्हारे ऐसा निर्जीव व्यक्ति भी उत्पन्न होंगे, ऐसी सम्भावना न थी!...... खाण्डव की ज्वाला के समान जल उठो! चाहे उसमें आर्य भस्म हों, और चाहे तुम।"

मनसा ही यह उत्तेजना प्रदान करती है और वह आर्यों और नागों का घोर युद्ध और नाश उपस्थित करा देती है। जब उसकी आँखें खुलती हैं तभी अवस्था सम्हलती है।

'अजातशत्रु' में छलना और वासवी का पारस्परिक द्वेष ही नाटक के लिए आदि से अन्त तक सामग्री देता है, और पुत्र-संकट में जब छलना को वासवी के यथार्थ स्नेह का ज्ञान होता है, तभी उसकी आँखें खुलती हैं, और तभी नाटक अपनी सहज विश्रान्ति पर पहुँच जाता है।

यही पारस्परिक द्वेष 'स्कन्दगुप्त' में भी काम कर रहा है। नाटक की गति में तीव्रता और उग्रता अनन्तदेवी के इसी द्वेष के कारण आती है। स्कन्दगुप्त के समस्त कर्तृत्व का जैसे यही भूमिका-पट बना हुआ है। जिस समय अनन्तदेवी यह कह उठती है—

"क्यों लज्जित करते हो स्कंद! तुम भी तो मेरे पुत्र हो"—नाटक समाप्त हो लेता है, क्योंकि उसकी भाव का पूर्ण विरेचन यहाँ हो जाता है।

ऐसे तेज और कर्तृत्व के साथ ही मनोरम सुषमा और काव्यमय चरित्र प्रसादजी की स्त्रियों में ही हैं। 'अजातशत्रु' की मल्लिका 'आलोक पूर्ण नक्षत्रलोक से कोमल हीरक कुसुम के रूप में' ही अवतीर्ण हुई लगती है। उसका चरित्र और वचन सभी काव्यमय हैं; उसके बौद्ध धर्म के आचारों को अद्भुत सुषमा से रञ्जित कर अपने चरित्र के द्वारा प्रस्तुत किया है। संगीत की स्वर लहरी-सी देवसेना स्कंदगुप्त के रोम रोम को झंकृत किए हुए हैं। विजया भी काव्य ही है, भले ही वह अपकाव्य हो—इनके चरणों में पुरुषों का पर्यवसान है। ये अपने व्यक्तित्व से पूर्ण तेजवान हैं और बड़े-बड़े पुरुष इनमें विसर्जित हो रहे हैं। मल्लिका ने प्रसेनजित और विरुद्धक को श्रीहीन कर

अपनी समस्यायें हैं। फिर भी वे आपस में असम्बद्ध नहीं। प्रत्येक के शासन की तह में विद्रोह की भीषण ज्वाला सुलगती हुई दृष्टि गत होती है। यदि मगध और कोशल में विद्रोह की चिनगारी वहाँ के राजकुमारों के हाथों सुलगाई जाती है तो कोशाम्बी में यह सौतिया डाह का प्रतिफलन है। 'अजातशत्रु में सौतें हैं और सौतिया डाह भी।' 'प्रायः सभी नाटकों में न्याय के महत्व को बढ़ाने के लिए, कूटनीति लेखक को प्रिय रही है। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त सभी में हमें उसी नीति का चक्र घूमता मिलता है।' यदि प्रसेनजित् ने विश्वासघात से सेनापति बन्धुओं का बध करवा दिया तो उससे मल्लिका का त्याग और महत्व तप्त सोने की भाँति निखर उठा।' छलना की कूट-मंत्रणा और कुणीक का अशिष्ट व्यवहार बिम्बसार के त्याग को आगे ही बढ़ाने में सहायक हुआ। देवदत्त का विरोध भी यदि कुछ कर सका तो भगवान बुद्ध के महत्व को बढ़ाकर उनके लिए सफलता का मार्ग साफ कर गया। अन्य नाटकों की अपेक्षा 'अजातशत्रु में' लेखक युद्ध व्यवसाय के विरुद्ध रहा है और इसको बहुत दृढ़ता-पूर्वक उसने रखा है।

पात्रों के व्यक्तित्व की ओर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है मानों अजातशत्रु में 'कवि ने पुरुष को कोमल से बाँध रक्खा है।' पुरुष स्त्रियों के इङ्गित पर नाचनेवाले हैं। इनका व्यक्तित्व स्त्रियों के व्यक्तित्व के नीचे दब-सा गया है। स्त्रियाँ अधिक सतेज और जाग्रत हैं और वे ही 'जाग्रत और जीवित सुकुमार राज-कन्याएँ नाटकीय गतिविधि की नियामक तथा संचालक हैं, उनके व्यक्तित्व की परिधि में घिरे-घिरे पुरुष को हम चलते पाते हैं।' छलना और मल्लिका इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं।

छलना मगध-सम्राट की छोटी रानी और अजातशत्रु की माँ है। इसी की देख-रेख में सारे मगध राज्य का संचालन होता है। इसे राजमाता होने का गर्व है और वीरप्रसू होने की महत्वाकांक्षा। अजातशत्रु में जो कुछ भी पुरुषार्थ दृष्टिगत होता है, वह इसी के निरंतर उत्साहित करते रहने के फल-स्वरूप है। इसी प्रकार विरुद्धक का पुरुषार्थ भी उसकी माँ शक्तिमती की महत्वाकाँक्षा का प्रतिफल है।

उसमें मल्लिका हमारे सामने मानवता के लिए एक आदर्श होकर उपस्थित होती है। त्याग और सहनशीलता की सजीव मूर्ति मल्लिका, हमारे नारी-समाज के सम्मुख अनुकरण की जीवित वस्तु है। इसके जीवन की तह में एक भावना है जो दुखों से पोषित और कठिनाइयों से पल्लवित हुई है। पति की मृत्यु का समाचार पाकर भी यह कर्त्तव्य से विचलित नहीं होती। यह नारी है और नारी के हृदय में जो हाहाकार होता है उसे यह भी अनुभव करती है। परन्तु हृदय के स्पन्दनों को छिपाना यह जानती है। इसे अपने पति की वीरता पर अभिमान है ज्यों-ज्यों दुख और कठिनाइयाँ इसके सामने आती जाती हैं, त्यों-त्यों यह सहिष्णुता के साथ बढ़ती जाती है, और अन्त में, मगध, कोशल और कौशाम्बी के बीच यह एक सेवा-भाविनी शक्ति (Ministering Angel) सी मालूम पड़ती है। मागन्धी को भी इसके द्वारा शिक्षा मिली है। त्याग और सहन की चोटियों पर यह इतनी ऊँची चढ़ चुकी है कि यह एक भावना बनी रह जाती। संसार में ऐसे लोग कम पाये जाते हैं, और जहाँ हैं, वे वन्दनीय हैं।

वासवी अजात-शत्रु की माता है। यह पति-परायणा है। इसमें दया है, क्षमा है और सहनशीलता है। अपने पति और भगवान गौतम की निरन्तर अनुगामिनी है। इसकी पुत्री पद्मावती, वत्सराज उदयन की रानी है। इसमें माँ के सब गुण हैं। पति के लिए यह प्राण तक दे सकती है। पति की ताड़ना को भी यह प्रसाद के रूप में ग्रहण करती है।

मागन्धी क्या है, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। पहले एक साधारण ब्राह्मण की लड़की है, फिर वत्सराज उदयन की छोटी रानी है, फिर काशी की प्रसिद्ध वारविलासिनी और तत्पश्चात् आम्रपाली के रूप में हमारे सामने आती है। आरंभ से अन्त तक यह नियति का खिलौना बनी रही। इसके हृदय में अतृप्त वासना है। इसी से यह नियति का शिकार बनी क्योंकि जीवन की उद्दाम तरंगों पर सर्वदा नियति का प्रकोप होता आया है। रूप का गर्व इसे बहुत ऊँचा उठाकर ले गया और अब उसने इसे उतना ही नीचे पटक दिया। वासना के प्रवाह में भगवान बुद्ध पर भी इसने अपनी निर्लज्ज दृष्टि डाली

थी। 'मैंने अपने जीवन के प्रथम वेग में ही आपको पाने का प्रयास किया था। ......आज मैं अपने स्वामी को, अपने नाथ को अपनाकर धन्य हो रही हूँ। ......प्रभु! मैं नारी हूँ, जीवन भर असफल होती आयी हूँ। मुझे इस विचार के सुख से वंचित न कीजिए।"

अब पुरुष पात्रों की ओर चलें। मगध का सम्राट् विम्बसार भगवान बुद्ध का अनुगामी है। गौतम के इशारे पर वह राज्य तक छोड़ देता है। वह दार्शनिक सिद्धान्त वाला व्यक्ति है और सदा जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में व्यस्त है। मानव-जीवन में जो पीड़ा है, जो चीत्कार है, उससे वह व्यथित है। वह अनुभव करता है कि यदि "मैं सम्राट न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलयों के झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और संसार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती—पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता—तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता।"

अजातशत्रु और विरुद्धक दोनों नाटक के सजीवतम पात्र हैं। इनके जीवन में गति है और है यौवन का विद्रोह। दोनों महत्वाकाँक्षी हैं। सम्राट बनने की लालसा ही इन्हें जघन्य से जघन्य कर्म की ओर प्रवृत्त करती है और यही इनके पतन का मूल कारण है। अच्छे में, बुरे में, सब में, स्त्रियाँ ही इनकी प्रेरणा और इनके पुरुषार्थ की संचालिका हैं। उन्हीं की मंत्रणा से इनका पतन होता है और उन्हीं के उपदेश से इनका उत्थान। इनके जीवन में ऐसे-ऐसे अवसर आये हैं जब ये साधारण मनुष्यता की सतह से नीचे गिरे मालूम पड़ते हैं। परन्तु फिर भी मल्लिका और वासवी प्रभृति देवियों के सम्पर्क में आकर, इनका उद्धार होता है। यही है प्रसाद का आशावाद। मनुष्य नीच से नीच पतित से पतित हो जाता है पर उसका भी उद्धार होता है। हम सबको समय से सबक सीखना होता है और हम सम्हलते हैं।

प्रसादजी की शैली भावात्मक है। इसमें वस्तु जगत् की घटनाओं की भावावेशमयी अभिव्यंजना होती है। फलतः भाषा गतिशील, चित्रमयी और आकर्षक है। गद्य में भी हमें पद्यात्मक अभिव्यञ्जना की अनुभूति होती है।

यद्यपि पात्रों के साथ भाषा की शैली बदलती नहीं फिर भी कथोपकथन की शैली मनोवैज्ञानिक होती है और विचारों के अनुरूप हो उसमें कर्कश एवं मधुर पदावलियों का प्रयोग होता है। शैली की भावात्मकता पात्रों को भी भावुक बना देती है। भाषा में निम्नकोटि के पात्र भी भावुक दीखते हैं। भाषा में चमत्कार लाने के लिए वाक्यों के व्याकरण-सम्मत बनावट में उलट-फेर किया गया है। यथा—"हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलाषाएँ बिजली की तरह तू अपने हृदय में आलोकित करता है?......जीवन की शान्तिमयी सच्ची परिस्थितियों को छोड़कर व्यर्थ के अभिमान में तू कब तक पड़ा रहेगा?"

'प्रसाद'जी की लाक्षणिक-वैचित्र्य-पूर्ण भाषा में कल्पना की क्रीड़ा के लिए यथेष्ठ अवकाश है। जहाँ-जहाँ भी कल्पना के छींटे हैं, भाषा बड़ी सुन्दर हो गयी है। परन्तु लाक्षणिकता और भावुकता के बाहुल्य के कारण कहीं-कहीं इनकी शैली बुद्धि को सहज ग्राह्य नहीं होती। 'प्रसाद' जी की शैली द्विवेदी युग की नहीं वरन छायावाद-युग के अरुणोदय की प्रतिनिधि शैली है। इस प्रकार 'प्रसाद' के छायावाद का प्रभाव उनके नाटकों में भी स्पष्टरूपेण लक्षित है।

चन्द्रगुप्त

मुद्राराक्षस तथा प्रसादजी और डी० एल० राय महोदय के चन्द्रगुप्त की तुलनाएँ

चन्द्रगुप्त का नाम भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। विदेशियों द्वारा लिखे हुए इतिहास में भी हम चन्द्रगुप्त का नाम सर ऊँचा करके पढ़ सकते हैं। पहले-पहल चन्द्रगुप्त का नाटकरूप में वर्णन विशाखदत्त ने अपने मुद्राराक्षस में किया है। आजकल भी चन्द्रगुप्त के नाम से दो नाटक निकले हैं किन्तु इनमें और मुद्राराक्षस में अन्तर है। उस नाटक में चन्द्रगुप्त चाणक्य के हाथ में कठपुतली मात्र है। वह नाटक चाणक्य और राक्षस के राजनीतिक घात-प्रतिघात का खेल है। उसमें दो स्वामिभक्त खिलाड़ियों की शतरंज की चालें हैं। काठ की गोटों के स्थान में जीते-जागते पात्र हैं जिनमें प्रधान चन्द्रगुप्त है। नाटक के आरम्भ से ही चन्द्रगुप्त मगध सिंहासन पर है। राक्षस अपने स्वामी नन्द का पक्ष लेते हुए चन्द्रगुप्त के स्थान में किसी दूसरे को राजपद पर स्थापित करना चाहता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त की रक्षा करता है। राक्षस अपनी स्वामिभक्ति में अटल रहता है। चाणक्य राक्षस की बुद्धि और स्वामिभक्ति का लोहा मानते हुए चन्द्रगुप्त के हित में यही चाहता है कि राक्षस उसका मंत्रीपद स्वीकार करले। चाणक्य की सारी चालों का यही फल होता है। राक्षस मन्त्रित्व स्वीकार करने को बाधित हो जाता है। यही इस नाटक की फल सिद्धि है। इसमें केवल बुद्धि और कूटनीति का चमत्कार है। इस नाटक की कथावस्तु भी काफी पेचीदा है। इसमें कोमल भावों के लिए स्थान नहीं है। शृङ्गार का नितान्त अभाव है। चन्दनदास और राक्षस का सख्य तथा दोनों मन्त्रियों की स्वामिभक्ति दर्शनीय है। इस नाटक में चन्द्रगुप्त को मुरापुत्र ही माना गया है।

चन्द्रगुप्त को ही लेकर आधुनिक युग के दो भिन्न-भिन्न प्रान्तों के महान कलाकारों ने जिनमें एक हैं बङ्गाल के द्विजेन्द्रलाल राय और दूसरे बनारस के जयशङ्करप्रसाद—नाटक लिख कर अपनी-अपनी भाषा का गौरव बढ़ाया है। इन दोनों नाटकों का दृष्टि-कोण मुद्राराक्षस से भिन्न है। इन दोनों में चन्द्रगुप्त अपने गुरुदेव चाणक्य के अतिरिक्त अपना कुछ व्यक्तित्व रखते हैं (एक स्थान में मुद्राराक्षस में भी चन्द्रगुप्त ने अपना व्यक्तित्व दिखलाया है किन्तु वह चाणक्य की मन्त्रणा से) और अपने पौरुष के साथ अपना साम्राज्य स्थापित करते हैं। दोनों ही नाटककारों ने यूनानी सेनापति सिल्यूकस की दुहिता से चन्द्रगुप्त का विवाह कराया है। किन्तु राय महोदय ने उसका नाम हेलेन रक्खा है, प्रसादजी ने उसका नाम कार्नेलिया रक्खा है। इन दोनों नाटकों में मन्त्रियों की चोट नहीं है वरन् भारत और यूनान की सभ्यताओं की चोट है अथवा दूसरे शब्दों में चाणक्य और अरस्तू की चोट है दोनों ही में विवाह सम्बन्ध द्वारा भारत और यूनान में सन्धि स्थापित होती है।

उपर्युक्त बातों में समानता होते हुए भी बहुत सी बातों में भेद है। वास्तव में तुलना के लिए समान वस्तुएँ ही तराजू के पलड़े में रक्खी जाती हैं। प्रान्तीय साहित्यों में ऐसे तुलानात्मक अध्ययन का कम अवसर मिलता है क्योंकि दो भिन्न कलाकार एक ही विषय पर कम लिखते हैं। पहले यह बतला देना आवश्यक है कि राय महोदय ने मुगल कालीन भारत के चित्रण में विशेषता प्राप्त की है और प्रसादजी की प्रतिभा मध्यकालीन भारत के चित्रण में अधिक प्रस्फुटित हुई है।

यद्यपि राय महोदय की पुस्तक पहले की है तथापि प्रसादजी की पुस्तक उसका अनुकरण नहीं कही जा सकती है। दोनों नाटकों में चन्द्रगुप्त के जन्म के सम्बन्ध में भेद है। राय महोदय ने विशाखदत्त के साथ सहमत होते हुए चन्द्रगुप्त को नन्द की दासी मुरा शूद्रारानी का पुत्र माना है और प्रसादजी ने अपने नायक को मौर्य नामक क्षत्रिय सेना नायक का पुत्र माना है। बौद्ध इतिहासकार ऐसा ही मानते हैं। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को मुरा का पुत्र

... नाटक में शूद्र माता का स्वाभिमान दिखलाने का अच्छा अवसर ... है। इस सम्बन्ध में नन्द और मुरा का वार्तालाप बड़ा आकर्षक है। ...जी ने इस प्रकार की वार्तालाप का मोह छोड़कर बौद्ध लेखकों के साथ सहमत होते हुए प्राचीन शास्त्रकारों के मत के अनुकूल अपने नायक को कुलीन नायक रखना अधिक श्रेयस्कर समझा। जब उसके लिए आधार है तो कुलीन ही क्यों न रक्खा जाय। इसके अतिरिक्त भाई के मारने में अधिक नृशंसता है। राय महोदय इस बात को स्वीकार करते हुए चन्द्रगुप्त को अर्जुन की भाँति इस कार्य से विचलित भी कराते हैं। अन्त में नन्द को क्षमा भी कराते हैं। यह सब स्वाभाविक है। दोनों ही नाटककारों ने नन्द का वध शकटार के हाथ से कराया है। यह ठीक है क्योंकि शकटार को ही नन्द से व्यक्तिगत द्वेष था उसी के सात पुत्र मारे गये थे।

नन्द की हत्या में दोनों ही नाटककार चन्द्रगुप्त को निर्दोष रखते हैं प्रसादजी ऊपरी तौर से चाणक्य को भी निर्दोष रखते हैं। वह नागरिकों से नन्द के छोड़ दिये जाने का प्रस्ताव करता है किन्तु शकटार सहसा आकर अपना बदला लेने को उसकी छाती में छुरा भोंक देता है। राय महाशय चाणक्य और मुरा दोनों को ही कात्यायन के साथ नन्द की हत्या में लपेटते हैं। राय महोदय कात्यायन और शकटाकार को एक ही व्यक्ति मानते हैं किन्तु कात्यायन जैसे व्याकरण के पंडित से वधिक का काम लेना जरा अनुचित सा मालूम पड़ता है राय महाशय ने चाणक्य की आज्ञा से नन्द की हत्या कराना दिखाया है। वह चाणक्य के स्वभाव के विरुद्ध नहीं है किन्तु मुरा का बीच में आकर आदेश देना कुछ अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। कम से कम मुरा के पूर्व कथित वाक्यों के सर्वथा विरुद्ध है। मुरा को मानसिक आघात जरूर पहुँचा था किन्तु चन्द्र के द्वारा कात्यायन के रोके जाने पर भी उसका (मुरा का) बीच में आ जाना और आग्रह पूर्वक वध की आज्ञा देना विमाता को उच्च भावों से वंचित कर देना है। उसका पीछे से रोना और यह कहना "मैं तो इसकी रक्षा करने आयी थी" चाहे वास्तविक क्यों न हो विडम्बना मात्र दिखाई पड़ता है। इस सम्बन्ध में इतना कहना आवश्यक है कि राय

महाशय ने राज्य विप्लव के कार्य को एक गृह-युद्ध का रूप दिया है। उन्होंने प्रसादजी की भाँति सब काम एक दिन में नहीं समाप्त किया। राय महाशय ने नन्द को बन्दी करा कर फिर वध कराया है। प्रसादजी ने तुरन्त ही उसका काम तमाम कर दिया है। राय महाशय ने नन्द के लिए कोई रोने वाला नहीं रक्खा। प्रसादजी ने नन्द की पुत्री कल्याणी की सृष्टि की है जो वास्तव में कल्याणी थी। अपने पिता के कु-शासन का विरोध करते हुए भी और चन्द्रगुप्त से प्रेम करते हुए भी उसने पिता के वध होने पर आत्म-हत्या कर ली।

प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के राक्षस और वररुचि (कात्यायन) दोनों ही आमात्य माने हैं। राय महोदय ने केवल कात्यायन जिसका उन्होंने शकटार के साथ तादात्म्य किया है मंत्री रक्खा है। शकटार को भी मंत्री बनाने का प्रमाण है किन्तु यह नहीं मालूम कि राय महोदय ने शकटार और कात्यायन का किस आधार पर एकीकरण किया है। राय महोदय ने कात्यायन को चाणक्य से मिला दिया है अर्थात् दोनों ही के योग से नन्द का पतन होता है।

चाणक्य और नन्द के वैर में मूल कारण दोनों नाटककारों ने भिन्न-भिन्न आधार पर चाणक्य और नन्द का वैर कात्यायन की साजिश से कराया है। राय महोदय ने चाणक्य को नन्द के यहाँ पुरोहित कर्म के लिए आमंत्रित करा कर नन्द के साले बाचाल द्वारा उसका अपमान कराया है। प्रसादजी ने नन्द और चाणक्य का पुराना वैर दिखाया है। नन्द ने चाणक्य के पिता चणक का सर्वस्व हरण कर लिया था। इसलिए चाणक्य स्वयं ही नन्द से क्रोधित था और तक्षशिला से लौटने पर चाणक्य का नन्द की सभा में अपमान हुआ। इस बात ने चाणक्य के वैर-भाव को और भी उग्र बना दिया था।

यूनानियों के सम्बन्ध में राय महोदय चन्द्रगुप्त को भेदिये के रूप में सिकन्दर और सेल्यूकस के साथ स्टेज पर लाते हैं। चन्द्रगुप्त अपने वाक्चातुर्य तथा सिकन्दर की उदारता से कैदी होने से बच जाता है। प्रसादजी इसके पूर्व की भी कथा बतला कर पाठकों को आश्चर्य में नहीं रखते। राय

महाशय सिकन्दर के सामने सेल्यूकस और एन्टीगोनस के साथ वाक्-युद्ध कराते हैं। प्रसादजी के नाटक में एन्टीगोनस का स्थान फिलिप्स ले लेता है। प्रसादजी के नाटक में चन्द्रगुप्त सिकन्दर के देखते-देखते अपने बाहुबल से अपने को मुक्त कर भाग जाता है, यह जरा अस्वाभाविक मालूम पड़ता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त इस मौके पर बड़ी निर्भयता से बात-चीत करता है और सिकन्दर को लुटेरा तक कहने में नहीं चूकता। राय महोदय का चन्द्रगुप्त स्वाभिमान रखते हुए परिस्थिति से कुछ डरा हुआ प्रतीत होता है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त सिंह की तरह निर्भय है। वह सिकन्दर से कहता है "लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को बीच में एकत्रित करके उन्हें वीर सेना कहना रण-कला का उपहास करना है।" आम्भीक के कहने पर कि शिष्टता से बातें करो चन्द्रगुप्त उत्तर देता है कि वह भीरु कायरों की सी वंचक शिष्टता नहीं जानता।

राय महोदय ने अपने नाटक में सिकन्दर के युद्ध और उसमें उसके जख्मी होने का कोई उल्लेख नहीं किया। प्रसादजी ने उस ऐतिहासिक घटना का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया है इसमें चाहे ब्यौरे की भूल हो परन्तु वर्णन भारत के गौरव को बढ़ाने वाला है। इसमें भारतीयों की उदारता का परिचय दिया।

सेल्यूकस की चढ़ाई के सम्बन्ध में दोनों लेखकों के वर्णन प्रायः एक से ही हैं। केवल इतना ही अन्तर है कि राय महाशय की हेलना विश्व-प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह अपने पिता को इस युद्ध के लिए बहुत कुछ रोकती हैं, यहाँ तक कि कुछ अशिष्टता की भी बातचीत कर बैठती है यद्यपि पीछे से माँफी मांग लेती है। प्रसादजी की कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के प्रति व्यक्तित्व आकर्षण से अधिक प्रेरित प्रतीत होती है।

राय महाशय का चन्द्रगुप्त चाणक्य के चले जाने से कुछ हताश सा हो जाता है। बीच में ऐसी कमजोरी का आजाना अस्वाभाविक नहीं है। प्रसादजी का चन्द्रगुप्त अविचलित रहता है। प्रसादजी के चन्द्रगुप्त के चरणों में सफलता लौटती सी मालूम पड़ती है। राय महोदय के चन्द्रगुप्त को सफलता कु

परिश्रम के साथ मिलती है। दोनों ही नाटककारों ने शत्रु सेना में राक्षस या भद्रत्यायन के रूप में एक भेदिया पहुँचा दिया है। दोनों ही नाटककारों ने चन्द्रगुप्त और चाणक्य के वैमनस्य हो जाने का वर्णन किया है किन्तु दोनों का ही वर्णन विशाखदत्त के आधार पर है पर ब्यौरे में कुछ भेद है। मुद्राराक्षस द्वारा हमको चन्द्रगुप्त में थोड़े स्वाभिमान की रेखा जाग्रत होने का पता चलता है किन्तु वह भी चाणक्य की कूट नीति का एक अङ्ग था जिससे कि राक्षस को यह धोखा हो जाय कि अब चाणक्य इसकी सहायता में नहीं है। मुद्राराक्षस में जिस उत्सव का उल्लेख है वह वसन्तोत्सव है। इन नवीन नाटकों में स्वयं चन्द्रगुप्त का विजयोत्सव है। इस बात में मैं समझता हूँ कि विशाखदत्त ने अधिक बुद्धिमत्ता से काम लिया है। सार्वजनिक उत्सव के बन्द होने से राजा को क्रोध आना स्वाभाविक सा प्रतीत होता है। अपने विजयोत्सव पर भी क्रुद्ध होना कोई अस्वाभाविक नहीं है किन्तु उसमें अधिक बड़प्पन नहीं दिखलाई पड़ता। प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त के मुख से उसके माता पिता के रूठ जाने के ऊपर अधिक जोर दिलवाया है। दोनों ही नाटककारों का वर्णन प्रायः एक सा है। दोनों ही में यह दिखलाई पड़ता है कि चन्द्रगुप्त को चाणक्य का नियंत्रण कुछ अखरता है। राय महोदय ने चन्द्रगुप्त को इतना उत्तेजित कर दिया है कि वह चाणक्य को कैद करने की आज्ञा दे देता है किन्तु चाणक्य के आतंक के कारण उसके रोक देने पर किसी की हिम्मत नहीं पड़ती कि उसे पकड़े। गुरुदेव को कैद करने की आज्ञा देना कुछ अनुचित राजमद और अशिष्टता का परिचय देता है।

उत्सव के रोकने में चाणक्य की बुद्धिमत्ता का परिचय चन्द्रगुप्त को शीघ्र ही लग जाता है इस बात को दोनों ही नाटककारों ने दिखलाया है और दोनों ही ने विशाखदत्त का आश्रय लिया है। किन्तु अन्तर इतना है कि प्रसादजी ने चन्द्रगुप्त की रक्षा के लिए उसी घटना में मालविका का बलिदान कराया है। इस बलिदान में त्याग और प्रेम की पराकाष्ठा अवश्य है किन्तु वह बहुत आवश्यक नहीं है। जैसा राय महोदय ने दिखलाया है वैसे बिना मालविका के बलिदान के ही चन्द्रगुप्त की रक्षा हो सकती थी।

मालविका के बलिदान से इतना लाभ अवश्य हुआ है कि कार्नेलिया का पथ निष्कण्टक हो जाता है और चन्द्रगुप्त तथा राज-माता के लिए यह धर्म-सङ्कट नहीं रहता कि किसके साथ विवाह किया जाय। मालविका यदि जीवित रहती तो कठिन समस्या आती—एक ओर तो मालविका का आत्म-बलिदान और प्रेम, दूसरी ओर कार्नेलिया चन्द्रगुप्त का परस्पर प्रेम तथा राजनीतिक आवश्यकता। राय महोदय ने छाया और हेलना (जोकि मालविका और कार्नेलिया के स्थानापन्न हैं) के सम्बन्ध में इस समस्या को बड़ी सुन्दरता के साथ हल किया है। उन्होंने दोनों ओर से उदारता की पराकाष्ठा दिखलायी है। हेलना के मुख से क्या ही सुन्दर शब्दों में कहलाया है "आओ बहिन हम दोनों नदियाँ एक ही सागर में जाकर लीन हो जायँ। सूर्य-किरण और वृष्टि मिल कर मेघ के शरीर में इन्द्रधनुष की रचना करें, काहे का दुख है बहिन, एक ही आकाश में क्या सूर्य और चन्द्र दोनों नहीं उदय होते।" यह समझौता बड़ा सुन्दर और काव्य पूर्ण है किन्तु इसमें दो विवाह का नैतिक प्रश्न रह जाता है और नाटक में जहाँ सभ्यताओं की चोट दिखाई है वहाँ दो विवाह की प्रथा से देश का नैतिक मान घटाना बहुत सुन्दर नहीं जँचता। अन्त में हम हेलना अथवा कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त के विवाह के सम्बन्ध में यह अवश्य कहेंगे कि राय की हेलना विश्व-प्रेम से अधिक प्रेरित है। वह निजी आकर्षण से चन्द्रगुप्त के साथ विवाह करने के लिए इतनी लालायित नहीं जितनी कि वह दो महान देशों में सन्धि स्थापन के लिए। प्रसादजी की कार्नेलिया चन्द्रगुप्त की ओर कुछ आकर्षित मालूम पड़ती है और वह इस विवाह को बलिदान नहीं समझती।

राय महाशय की हेलना विश्व-प्रेम के आवेग में थोड़ी देर के लिए पितृ-स्नेह को भूल जाती है, यद्यपि वह पीछे से सुधर जाती है। वह सेल्यूकस की हार पर एक तरह से प्रसन्न होती है। प्रसादजी की कार्नेलिया में यह बात नहीं। उसमें पिता और पुत्री का सम्बन्ध अधिक स्वाभाविकता के साथ निभाया गया है। राय महोदय के सेल्यूकस में स्वदेशाभिमान अधिक है वह हेलना के विवाह के समय राज-दरबार में नहीं जाता। प्रसादजी का सेल्यूकस

दरबार में जाता है पर कुछ अनिच्छा से।

प्रसादजी चन्द्रगुप्त के मुख से सेल्यूकस को विजेता कह कर सम्बोधित कराते हैं। इसमें कुछ व्यङ्गय की ध्वनि सुनाई पड़ती है जो ऐसे अवसर पर थोड़ी अनुचित जान पड़ती है।

दोनों ही नाटककारों ने कूट-नीति-विशारद नृशंस-हृदय चाणक्य में कुछ कोमलता के भाव दिखलाये हैं। राय ने चाणक्य की अपनी खोई हुई लड़की के प्रति वात्सल्य का भाव जो नाटक के महत्व को बढ़ा देता है—खूब दिखाया है। प्रसादजी ने सुवासिनी के प्रति चाणक्य के हृदय में कोमलता का स्थान रक्खा है किन्तु वह अपने पथ से विचलित नहीं होता और उसका राक्षस से विवाह कराने में सहायक होता है। प्रसादजी ने राक्षस का चरित्र अच्छा तो नहीं दिखलाया है। वह नीचता करता है पर उसके प्रति चाणक्य का उदार भाव सबको सुधार लेता है। प्रसादजी का राक्षस विलासी अधिक है, राज-नीतिक कम है। प्रसादजी ने भी उसकी मुद्रा से काम लिया। राय महोदय ने उसका कोई उल्लेख नहीं किया।

दोनों नाटकों के अन्तर का सार हम इस प्रकार से कह सकते हैं कि राय महोदय के नाटक में विश्व प्रेम की झलक अधिक है और प्रसादजी के नाटक में देश में सङ्गठन और राष्ट्रीयता के भावों को जाग्रत करने की गूँज है। संसार में दोनों भाव आवश्यक हैं। इसलिए दोनों ने ही अपनी-अपनी वाणी से अपने-अपने प्रान्त को अलंकृत किया है और दोनों ही नाटकों से हम पूर्ण मनोरञ्जन कर सकते हैं।

प्रसादजी के उपन्यास (१)

प्रसादजी कवि थे। उपन्यास भी उनका काव्य हो गया है। उनके हृदय में कविता देवी की मूर्ति इस विग्रह से आयी। यों कि उनकी प्रत्येक कृति में चाहे वह गीति-काव्य की कुछ पंक्तियाँ हों, नाटक का एक दृश्य हो, चाहे औपन्यासिक चरित्र-चित्रण हो वह [illegible] पड़ती थी। [illegible] में उन्होंने प्रत्येक मनःस्थिति को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से परखा था। प्रत्येक क्षण की अनुभूति निराले ढंग से की था। प्रसादजी की [illegible] यदि अलंकारों और वर्णों को हटा कर देखा जाय तो सत्य का ही [illegible] है। कभी-कभी जैसे 'कंकाल' में, वह बड़ा भीषण है, परन्तु उसका उत्तरदायी रचयिता प्रसाद नहीं है। सत्य, स्वयं परम सत्य सुन्दर ही है कि असुन्दर भी, मैं नहीं कह सकता मेरा कभी साक्षात्कार नहीं हुआ। भगवान् ने गीता में जहाँ अपना परिचय दिया है वहाँ 'वित्तेशोयक्ष रक्षसाम्', 'प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां', 'मृगाणांच मृगेन्द्रोहम्' 'वैनतेयश्च पक्षिणाम्' सब सुन्दर वस्तुएँ अपने लिए खोज ली हैं। भगवान् सुन्दरता के इतने बड़े प्रेमी हैं तब असुन्दरता के लिए भी कोई स्थान उनके पास है कि नहीं, मैं नहीं कह सकता। केवल वेचारे कवियों के लिए उन्होंने कहा 'कवीनामुशना कविः' अर्थात् कवियों में मैं शुक्राचार्य कवि हूँ।

परन्तु इस संसार में तो भीषणता तथा असुन्दरता भी कम परिमाण में नहीं है। वह सत्य नहीं है, यह कहने का मेरा साहस नहीं है. मैं इतना बड़ा दार्शनिक नहीं हूँ। जिसकी अनुभूति हमारी इन्द्रियों द्वारा होती है, हम साधारण व्यक्तियों के लिए वह भी सत्य का ही एक स्वरूप है। सुन्दर और असुन्दर सत्य के दोनों स्वरूपों का चित्रण प्रसादजी के उपन्यासों में पाया जाता है।

कथानक—कविता में प्रसादजी आन्तरिक स्वरूप में अधिक हैं। जहाँ उन्हें बाह्य रूप भी लिखना पड़ा है वहाँ भी आन्तरिकता प्रवेश कर गयी है। नाटकों में उन्होंने अधिकांश अपना प्रासाद इतिहास की नींव पर खड़ा किया है। उन्होंने तीन उपन्यास लिखे। 'कंकाल' और 'तितली' तो संसार के सम्मुख आ चुके हैं। तीसरा 'इरावती' अधूरा छोड़ कर वे संसार को भी छोड़ गये। कथावस्तु बहुत पुष्ट नहीं है। यह घटना-प्रधान उपन्यास है। बहुत-सी घटनाएँ घटती हैं। यद्यपि उनके कर्ता अथवा भोक्ता किसी-न-किसी प्रकार से कभी-न-कभी एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। देवनिरंजन और किशोरी की एक कथा है, मंगल और तारा की एक कथा है। इन दोनों कथाओं का क्रमशः विकास किया गया है। और जैसे एक कुशल चित्रकार दो रंगों को मिलाता है, एक दूसरे से मिलाये गये हैं। इनके भीतर तीन उपकथाएँ घंटी और विजय की, बाथम और लतिका की तथा गाला गूजर की समावेशित हैं। इन तीनों को भी एक दूसरे के साथ और दोनों मुख्य कथाओं के साथ इस प्रकार से लेखक ने बाँधा है कि यह एक शरीर के ही विभिन्न अंग हो गयी हैं। एक दूसरे का सम्बन्ध घटना-चक्र द्वारा होता है। सारी कथा एक कथानक का विकास नहीं है।

'तितली' एक ग्राम का चित्र है। इसमें एक ग्राम के दो प्राणियों के चारों ओर सारा चक्र घूमता है। बंजो और मधु अर्थात् तितली और मधुवन इसके नायिका और नायक हैं। तितली का स्वभाव ही मधुवन में थिरकना और नृत्य करना है। और सभी पात्र इस नृत्य के दर्शक हैं। इन्द्रदेव, शैला, माधुरी, स्वरूपकुमारी, अनवरी इत्यादि नगर से आते हैं और नगर को लौट जाते हैं। उनमें नागरिकता है। इस उपन्यास में कथानक एक ही है। उसी के विकास में और पात्र सहायता देते हैं। यों तो किसी उपन्यास में घटनाओं का प्रभाव पड़े बिना कथा का विकास हो ही नहीं सकता, किन्तु 'कंकाल' में घटनाओं की प्रधानता है, कथावस्तु की नहीं। 'तितली' में कथा का प्राधान्य है। यह कहा जा सकता है कि 'कंकाल' का कथानक घटनाओं से बना है, तितली की घटनाएँ कथानक से बनी हैं।

चरित्र-चित्रण—प्रसादजी अपने उपन्यासों में आदर्शवादी नहीं हैं। उनके पात्र सजीव प्राणी हैं। देवनिरंजन से कितने कर्मनिष्ठ तपस्वी सौन्दर्य की स्निग्धता पर, मनु से लेकर आज तक, फिसलते आये हैं और किशोरी-सी कितनी किशोरियाँ सन्तान-लिप्सा में जीवन की उस राह में पाँव रखती है, जिसे समाज पतन कहता है। मंगल से कितने युवक हमारे आपके बीच मंगल करने को उद्यत होते हैं परन्तु समाज उन्हें बढ़ने नहीं देता और वह अमंगल हो जाते हैं। श्रीचन्द्र से कितने व्यवसायी हमारे समाज को अलंकृत करते हैं, जो धन एकत्र करना और विलास को ही जीवन का ध्येय समझते हैं। बाथम ऐसे ईसाई व्यापारी अब भारतवर्ष में सम्भव है कम दिखाई देते हों (क्योंकि ईसामसीह की भेड़ों के उपयुक्त इस देश में अब घास कम मिलती है) परन्तु कुछ ही दिनों पहले बाथम ऐसे ईसाई भारतवर्ष के प्रत्येक नगर में ही नहीं, गांव में भी घुसे दिखाई देते थे। जिनका काम भूले हुओं को ईसा के नाम पर ईसाई मत में प्रवेश कर देना और किसी-न किसी प्रकार धनोपार्जन करना था। इस प्रकार से 'कंकाल' के सभी पात्र हमीं आप में से लिये गये हैं। उनका जीवन भी मनुष्यों का ही जीवन है। कोई असाधारण व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ते। गोस्वामी अवश्य एक ऊँची श्रेणी के व्यक्ति हैं। ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं है, देश में कम भले ही हों। और 'कंकाल' में भी एक ही गोस्वामी जी हैं। घंटी और गाला का चरित्र अवश्य कुछ विचित्र-सा प्रतीत होता है परन्तु जिस वातावरण में वह पायी जाती हैं उसमें ऐसा हो जाना असम्भव नहीं है।

'तितली' में जो पात्र चित्रित किये गये हैं वे भी स्वाभाविक हैं। इन्द्रदेव, माधुरी, श्यामकुमारी, मधुबन, अनवरी, मैना, राजकुमारी सब चलते-फिरते व्यक्ति हैं और पग-पग पर हमारे समाज में मिलते हैं। 'कंकाल' के गोस्वामी जी के प्रतिनिधि 'तितली' में बनजरिया वाले बाबा जी हैं। जहाँ तक समझ में आता है, महात्मा गांधी इन दोनों चरित्रों की सृष्टि के मूल में हैं। जिस युग में यह उपन्यास लिखे गये हैं वह महात्मा गांधी का अभ्युदय काल है और गोस्वामी जी और बाबा जी महात्मा जी के स्पष्ट प्रतिनिधि हैं। पहले

आध्यात्मिक और दूसरे सामाजिक।

इन दोनों उपन्यासों में चरित्रों का क्रमशः उत्थान नहीं दिखाया गया है, यह तो लेखक उस समय करता है जब उसे एक आदर्श उपस्थित करना होता है। जिस रूप में मनुष्य आज हमारे समाज में पाया जाता है उसी रूप में उन्हें लेखक ने इन पुस्तकों में व्यक्त किया है। अपवादों को छोड़ दीजिए, उपन्यास अपवादों की सूची नहीं होते। अपवादों को यदि छोड़ दें तो संसार में मनुष्य पतन की ओर अधिक उन्मुख है। हमारी स्त्री-जाति अपने हृदय की दुर्बलताओं का शिकार है और मनुष्य के स्वार्थ की क्रीड़ा। प्रसादजी के चरित्रों की विशेषता यह है कि वे अतिरंजित नहीं हैं। उन्होंने चित्रकारी नहीं की है, फोटोग्राफी की है। प्लेट पर जो जैसा रहा है, वैसा उतार दिया है। किसी-किसी चित्र के ऊपर रंग भी चढ़ा दिया गया है। बस यह दोनों पुस्तकें वर्तमान हिन्दू-समाज के यथार्थ चित्रण हैं। परन्तु प्रसादजी का यथार्थवाद 'अल्ट्रारियलिस्ट' लेखकों की भाँति शिष्टता की सीमा के परे नहीं है। एक मर्यादा के भीतर है।

युग का प्रभाव—ऊपर मैं कह चुका हूँ कि प्रसादजी के सभी चरित्र समाज से लिये गये हैं और वह आधुनिक समाज है। आज जिस अवस्था में हिन्दू नर-नारी हैं, उसी का प्रतिबिम्ब है। अपने नाटकों में प्रसादजी ने प्राचीन भारत की महत्ता का दिग्दर्शन कराया है। उपन्यासों में अर्वाचीन भारत के जीवन के स्पष्टीकरण की चेष्टा है। हमारा स्त्रियों के प्रति भाव और व्यवहार, देश में मन्दिरों और मठों की अवस्था, पूजा-पाठ का ढोंग, विवाहादि संस्कारों का पतन, जो भी इस समय देश की स्थिति है उसी को लेकर इन उपन्यासों की रचना की गयी है।

आज समाज में एक असन्तोष-सा फैला है। आज लोग सोच रहे हैं कि सुधार के लिये संगठन की आवश्यकता है कि नहीं, निरंजन के शब्दों में वर्ण-भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है अथवा ईश्वर प्रदत्त कुछ ऐसी वस्तु जो अमिट है। नारी और पुरुष के सम्बन्ध का 'एकमात्र समझौता' विवाह ही है कि और कुछ। विवाह के लिये दो हृदयों का सच्चा आदान-

प्रदान ही पर्याप्त है कि विशेष रूप से वेदी पर बैठ कर मन्त्रोच्चारण आवश्यक है। लोगों में भगवान के प्रति श्रद्धा और अश्रद्धा का द्वन्द्व चल रहा है। प्रेम सम्बन्धी विभिन्न प्रश्न जो समाज के हृदय में हलचल मचा रहे हैं उन्हें भी इन उपन्यासों में व्यक्त किया गया है।

यह कहना मूर्खता होगी कि प्रसाद जी ने इन सब प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दिया है अथवा सब समस्याओं की यथोचित मीमांसा की है। समाज की अधिकांश समस्यायें नित्य हैं। जो अलग-अलग युग में अलग-अलग रूप धारण करके आती हैं। उस युग के अनुसार लोग उसके निराकरण का प्रयत्न करते हैं। प्रसाद जी के एक नाटक की आलोचना करते हुए स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्द ने 'माधुरी' में लिखा था कि इन पुरानी बातों से देश का क्या कल्याण होगा, गड़ा मुर्दा उखाड़ने से क्या लाभ? मैं इस मत से सहमत नहीं हूँ। प्राचीनता की ही नींव पर तो वर्तमान खड़ा है। फिर स्वयं मुन्शी जी की भाँति सोचने वालों के लिए ये दोनों उपन्यास हैं जिनमें समय की गति के साथ-साथ चरित्र चलते हैं। यद्यपि मैं यह भी बता देना चाहता हूँ कि कंकाल में भी भगवान कृष्ण ही को आदर्श माना है (मार्क्स, लेनिन, या आगाखाँ को नहीं।)

ग्रामीण जीवन का चित्रण—प्रसादजी का जीवन अधिकांश नगर में बीता था। इधर हमारे देश में राजनैतिक कारणों से तथा आर्थिक कुव्यवस्था के कारण नेताओं का दृष्टिकोण बदला। आवाज उठी कि ग्रामों का सुधारना आवश्यक है। 'तितली' इसी की प्रेरणा है। परन्तु 'तितली' के अधिकांश पात्र नगर निवासी हैं। उन्हें अपने ग्राम से प्रेम है, उसमें सुधार करना चाहते हैं, उसकी अवस्था की उन्नति करना चाहते हैं किन्तु ग्राम-हृदय उनमें नहीं है। ग्राम जीवन का चित्र पूर्ण रूप से तब होता जब इसके सब पात्र मधुबन, तितली और राजकुमारी के समान ग्राम ही के होते। वहीं वे जन्मे होते, वहीं उनका जीवन बीता होता, तब उनमें ग्राम की आत्मा [illegible]। [illegible] यह होता है कि इस पुस्तक में ग्राम-जीवन का चित्रण उतना [illegible] ग्राम की समस्याओं के चित्रण का। यदि

ग्राम-जीवन इस पुस्तक का आदर्श रहा तो सफलता नहीं मिली। यदि इस उपन्यास में लेखक ने उन समस्याओं के सुलझाने का प्रयत्न किया है जो बीसवीं शताब्दी में गाँवों में प्रस्तुत हो गयी है तब लेखक अपने ध्येय पर पहुँचा है। परन्तु इन्द्रदेव के हैमलेट की भाँति "टू बी आर नाट टू बी" के जीवन ने और विधिवश शैला के पिता के घटनास्थल पर पहुँच जाने से ग्रामसुधार का कार्य विलुप्त प्रायः हो गया। इसमें मधुबन का चित्र एक ग्रामीण निवासी के रूप में बहुत सच्चा उतरा है।

संवाद—उपन्यासों में संवाद बड़े महत्व की वस्तु समझे जाते हैं। इनसे पात्र सजीव हो जाते हैं। प्रसाद जी के उपन्यासों में संवाद उपयुक्त, ओजपूर्ण, समयानुकूल तथा स्पष्ट हैं। एक बात अवश्य खटकती है कि 'कंकाल' में विशेषतः प्रसादजी के सब पात्र दार्शनिक हैं। चाहे शास्त्रों के अध्ययन करने वाले मनीषी गोस्वामी जी हों, अथवा समाजसुधार का सपना देखने वाला मंगल हो, वृन्दावन की कुंज गलियों में अट्टहास की ध्वनि फैलाने वाली घंटी हो, या कान्तार की छाया में विलसने वाली कमनिया वाला गूजरवाला हो, सब एक-से-एक बढ़कर तार्किक और दार्शनिक हैं। यदि इस अंश को छोड़ दिया जाय तो संवाद पात्रानुकूल और प्रभावोत्पादक हैं। किसी भी संवाद ने व्याख्यान का रूप धारण नहीं किया है। कहीं-कहीं तो वे बड़े ही मार्मिक ढंग से कहे गये हैं। उनका रस चखने के लिए तो उन्हें ही पढ़ना होगा, यह लेख नहीं।

स्त्रियों का स्थान—प्रसादजी ने दोनों ही उपन्यासों में स्त्रियों के चरित्रों पर विशेष ध्यान दिया है। प्रसाद जी की नारियां सब दुर्बल हैं। वे सदा अपनी दुर्बलताओं के वशीभूत हैं। उन्हें वेदना है, वे रोती हैं, खीजती हैं, समाज के कठोरतम दण्डों को सहती हैं और समाज की दृष्टि में पतित भी होती हैं; परन्तु मूक हैं। कुछ वश नहीं चलता। यही तो भारतीय स्त्रियों का स्वाभाविक चित्रण है। गाला के शब्दों में स्त्रियों की परिभाषा है:—"नारी जाति का निर्माण विधाता की एक झुंझलाहट है।" एक स्थल पर वही कहती है—"जो वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और

अपनी असहायता में निरीह है" संसार की और स्त्रियों के लिये यह ठीक हो या नहीं, भारतीय नारियों के लिए यह कठोर सत्य है। हमारे समाज में स्त्रियों पर जो अत्याचार होता है उसी की ओर इन उपन्यासों में लेखक ने लोगों की दृष्टि आकर्षित करने की चेष्टा की है। कुछ लोगों का कहना है कि 'कंकाल' में प्रसाद जी ने स्त्रियों का चरित्र बड़ा ही विडम्बनापूर्ण चित्रण किया है। सभी पतनोन्मुख हैं। वर्तमान हिन्दूसमाज के मानदण्ड से, अधिकांश स्त्रियाँ चरित्र-भ्रष्ट हैं। परन्तु यह बात नहीं है। प्रसाद जी का अभिप्राय यही है कि समाज की दृष्टि इन निरीह, पीड़ित, विताड़ित प्राणियों की ओर मोड़ें। हम देखें कि स्त्रियों पर समाज ने कितना अत्याचार कर रखा है। दोनों उपन्यासों में स्त्रियाँ तो अपनी दुर्बलता के कारण अपना जीवन दुःखी बनाती हैं, उन्हीं के कारण पुरुषों का जीवन भी अन्धकारमय हो जाता है। साथ ही पुरुषों का पाप-विमोचन भी स्त्रियों के ही द्वारा होता है। जिस भाँति शेक्सपियर की नारियाँ उसके नाटक के पुरुषों के कल्याण का कारण बनती हैं, उसी प्रकार प्रसादजी की स्त्रियाँ पुरुषों के तमोमय जीवन में दीपक की रेखा बनती हैं। शैला ही इन्द्रदेव के जीवन को स्थिर करती है। घंटी ही विजय को शान्तिपूर्ण मृत्यु प्रदान करती है। और गाला मंगल के जीवन का मार्ग बनाती है।

र्थिक का पथ मंगलमय नहीं है।

जीवन की आलोचना—इनके दो उपन्यास समाज से सम्बन्ध रखते हैं। समाज के सभी अंगों पर इन्होंने दृष्टि डाली है। पूजा-पाठ, विवाह, शिक्षा, धर्म, न्याय आदि विषयों का इस समय समाज में क्या स्थान है ? इन उपन्यासों में मिलता है। परन्तु इसके मूल में जो पारिवारिक जीवन है उसी पर प्रसाद जी ने विशेष ध्यान दिया है। पुरुष और स्त्री का समाज में क्या स्थान है और एक दूसरे के प्रति क्या सम्बन्ध समाज के लिए हितकर हो सकता है, यही दो प्रश्न उनकी समस्या के मूल में हैं। हमारे देश में यह सम्बन्ध ठीक है कि नहीं यही उन्होंने दिखाया है। सिद्धान्तों को लेकर मनुष्य कहाँ तक सफलतापूर्वक चल सकता है। प्रसाद जी के अनुसार कोरे सिद्धान्त भयंकर होते हैं। उनका कहना है कि हम अपने लाभ के लिए बहुधा सिद्धान्त गढ़ लेते हैं। समाज के भय से हम दूसरों का जीवन नष्ट कर देते हैं। अपनी त्रुटियों का फल भोगने का हमें साहस नहीं होता। पारिवारिक जीवन में वैमनस्य के जो कारण हो जाते हैं, 'तितली' में उनका भी यथेष्ट दिग्दर्शन है। शैला की कहानी लाकर यह भी दिखाया गया है कि केवल धर्म-परिवर्तन से जीवन में शान्ति नहीं आ जाती। उसके लिए तो हृदय में सन्तोष और शान्ति आवश्यक है। जैसे एक सर्जन सड़े अंगों को काट कर फेंकता जाता है उसी प्रकार प्रसादजी ने हमारे समाज की दूषित स्थिति को समाज के सम्मुख निःसंकोच रूप से रख दिया है।

नियतिवाद—प्रसादजी अपने जीवन में नियतिवाद के विश्वासी थे। पग-पग पर उनके उपन्यासों में यह स्पष्ट रूप से झलकता है। किशोरी यात्रा करने आती है पर मिल जाता है निरंजन। निरंजन भागता है तो भी वह हरद्वार पहुँच जाती है। मंगल तारा की सहायता करने आता है, परन्तु एक दूसरी ही घटना का नायक बन जाता है। फिर वह जंगल में छिपने जाता है तो मिल जाती है गाला। इसी प्रकार से घंटी विजय को खींच लाती है। शैला लन्दन से भारत चली आती है। जहाँ उसके पिता कभी नील का गोदाम चलाते थे। सब इस बात की चेष्टा करते हैं कि अपने एक

निश्चित मार्ग की ओर चलें, परन्तु सब व्यर्थ। नियति-सरिता की धारा बड़े वेग से अदृष्ट की ओर बढ़ाये चली जाती है। सब परवश, सब पराधीन, जितने पात्र हैं किसी ऐसे सूत्रधार की डोरी द्वारा कठपुतली से नाच रहे हैं कि बचना असम्भव है। चाहते हैं करना कुछ, करते हैं कुछ, हो जाता है कुछ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्रसादजी ने सर्वोपरि यह दिखाने की चेष्टा की है कि कोई महान् शक्ति जगत् के प्राणियों में खेल रही है और यह खिलौने से इधर-उधर थिरक रहे हैं। सब अपने-अपने भाग्य के अधीन हैं। जिधर नियति नटी ले जाय, जाते हैं। स्वयं लाचार हैं।

विचार-धारा—प्रसादजी के उपन्यासों में सुधारवाद तो है परन्तु वह पश्चिम के लिये हुए नवीन विचारों अथवा उपकरणों से नहीं है। अधिकांश उनके सिद्धान्त और विचार गोस्वामीजी के व्याख्यान द्वारा व्यक्त होते हैं। राजनीति में वे भगवान् कृष्ण की व्यवस्था के अनुगामी प्रतीत होते हैं। वे प्राचीनता के भक्त हैं। यह तो उनके नाटकों से भी प्रकट होता है कि प्रसादजी भारतीय संस्कृति के उपासक थे। 'कंकाल' उपन्यास में भी गुप्तकाल के साम्राज्य गौरव के वर्णन करने का लालच रोक नहीं सके। वर्णव्यवस्था, प्राचीन रूप में कर्मानुसार, विवाह-प्रथा, समाज का पुराना संगठन उन्हें अभीष्ट था। ऐसा इन उपन्यासों से झलकता है

ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक स्वयं ठीक निश्चय पर नहीं पहुँच सका। समाज-सुधार के लिए और देश में कार्य करने के लिए संगठन की आवश्यकता है कि नहीं? यद्यपि एक बार वह स्वीकार कर लेता है कि संगठन होना चाहिए, फिर आकर उसका विरोध करता है। विवाहादि में विश्वास है परन्तु उसके पाखण्ड में नहीं। तितली में कुछ आर्थिक-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया गया है। प्रसादजी के विचार से जनता को अर्थ प्रेम की शिक्षा देना उन्हें पशु बनाना है। उससे आत्मा का निर्वासन होता है। अर्थ-प्रेम से मनुष्य पशु बन जाता है। अर्थ विभाजन की उचित व्यवस्था प्राचीन प्रथानुसार ही ठीक होगी। वर्णाश्रम धर्म को ही उन्होंने उचित समझा है आजकल की पतिता-स्वथा को नहीं। परन्तु जिस रूप में पुरातन काल में था। प्रणय में हृदय

के सच्चे आदान-प्रदान को आडम्बरपूर्ण विवाह-संस्कार से अधिक पवित्र उन्होंने माना है। 'कंकाल' में वह परोक्ष रूप से समाज के आलोचक तथा सुधारक हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति की रक्षा वैवाहिक-जीवन का सुधार और नारी-जगत् का उद्धार उनका ध्येय है।

उपसंहार—उपर्युक्त बातों के होने पर भी उनके उपन्यासों से यह नहीं झलकता कि वह उपदेशक का काम कर रहे हैं। चरित्रों की गति विधि से स्वयं आपको ग्लानि और विषाद हो जाता है। स्त्रियों पर दया आती है। पुरुषों पर रोष आता है और अपने समाज पर चिढ़ उत्पन्न होती है। किसी आदर्श का अभाव ही इनमें आदर्शों की कल्पना करा देता है। दोनों ही उपन्यास नारी जाति की मूक पुकार हैं। प्रसादजी यह समझते थे कि उन्हीं के कल्याण से समाज का मंगल है। उन्हीं की ओर समाज की दृष्टि जानी चाहिए। चरित्रों का उत्थान अथवा क्रमशः विकास दिखाने की उन्होंने चेष्टा नहीं की। जिस अवस्था में समाज को उन्होंने पाया उसी को रेखाङ्कित किया। उनका अभिप्राय था कि प्रत्यक्ष कटु होने पर भी अधिक आवश्यक है और आदर्श की कल्पना मधुर होने पर भी वर्तमान में उतनी आवश्यक नहीं है।

प्रसादजी के उपन्यास (२)

जयशंकरप्रसाद के दो उपन्यास हैं—(१) कंकाल (२) तितली। एक अन्य ऐतिहासिक उपन्यास वे और लिख रहे थे—इरावती। इसका कथानक बौद्धकालीन है। इसे वे कामायनी महाकाव्य के बाद पूरा करना चाहते थे। लेकिन इसी अर्से में बीमार पड़ गए और यह बीमारी ऐसी लगी कि उन्हें लेकर ही मानी।

प्राचीन है अर्थात् राम, कृष्ण, बुद्ध की आर्य-संस्कृति का प्रचार करना।
भारत-संघ श्रेणीवाद, धार्मिक पवित्रतावाद तथा जातिवाद की उपेक्षा करता है, और मानवता के नाम पर सबों को गले लगाता है। हिन्दुओं का समाज-शासन कठोर हो चला है, क्योंकि दुर्बल स्त्रियों पर ही शक्ति का उपयोग करने की क्षमता उसके पास बच रही है और यह अत्याचार प्रत्येक काल और देश के मनुष्यों ने किया है; स्त्रियों की नैसर्गिक-कोमल प्रकृति और उनकी रचना इसका कारण है। भारत-संघ ऋषिवाणी को दुहराता है 'यत्र नार्य्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' और कहता है माता की जाति का आदर करो।

तितली में स्पष्ट-रूप किसी संस्था का निर्माण नहीं है, लेकिन उसके तीनों प्रमुख पात्र—तितली, मधुबन और शैला—बाबा रामनाथ की संस्था की उपज हैं। जमींदार इन्द्रदेव की सहायता से यह लोग ग्राम-सगठन में प्रयत्नशील हैं। इनकी योजना के अनुसार सबसे पहले गाँवों में किसानों का एक बैंक और एक होमियोपैथी का निःशुल्क औषधालय खुलना चाहिए। एक प्रगतिशील पाठशाला भी होनी चाहिए। तीसरे दिन जहाँ गाँव का बाजार लगता है, वहाँ एक अच्छा-सा देहाती बाजार हो, जिसमें बरधे, कपड़े, बिसातीखाना और आवश्यक चीजें मिल सकें। गृह-शिल्प को भी प्रोत्साहन देने का प्रयत्न किया जाय। किसानों के खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े बदल कर उनका एक जगह चक बना दिया जाय जिसमें खेती की सुविधा हो। अन्त में जब धामपुर ग्राम एक कृषि-प्रदर्शिनी बन जाता है तो उसका चित्र इस प्रकार है—

साफ-सुथरी सड़कें, नालों पर पुल, करघों की बहुतायत, फूलों के खेत, तरकारियों की पौध, अच्छे-अच्छे फलों के बाग। दो रात्रि-पाठशालाएँ भी खुल गई थीं। कृषकों के लिए कथा के द्वारा शिक्षा का प्रबन्ध हो रहा था। अखाड़े और सगीत-मण्डलियों का भी प्रचार हो रहा था। युवकों में स्वयं-सेवा की भावनाएँ जाग्रत की जा रही थीं।

कंकाल सं० १९८६ में प्रकाशित हुआ था। तितली का कुछ अंश

१९८९ में लिखा गया। उस समय विनोदशङ्कर व्यास की अध्यक्षता में पाक्षिक जागरण निकल रहा था। उसी में पहले-पहल तितली धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई। जागरण बन्द होने के साथ ही तितली भी अधूरी रह गई और फिर सं० १९९१ में प्रकाशित हो सकी।

सामुद्रिक ज्वार-भाटे की भाँति समाज और देश के इतिहास में भी उत्थान-पतन की लहरें उठा करती हैं। उत्थान के समय सामाजिक-नियमों मर्यादाओं और आदर्शों की सृष्टि होती है। और इस तरह उस समाज के समस्त सदस्यों का व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा विभिन्न मार्गों का अवलम्बन करके एक धारा-विशेष में प्रवाहित होने लगती है। दीपक अपनी [illegible]

है, फिर उद्धार होने के पश्चात्, एक पुत्र को जन्म देने के बाद, किशोरी के यहाँ परिचारिका के रूप में रहने लगती है। घंटी वृन्दावन की कुख्यात बाल-विधवा है, गाला हत्या-व्यवसायी बदन-गूजर की लड़की है। उसकी नसों में शाही खून है। पुरुष-सम्प्रदाय में श्रीचन्द्र व्यवसायी-हृदय है। समाज में मान-प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए पत्नी किशोरी को अलग रखने की व्यवस्था करता है। दोनों स्त्री-पुरुष की तरह रहने लगते हैं। तारा के गर्भ रह जाता है। यह सुनकर मंगल विवाह के ऐन मौके, तारा को छोड़कर भाग जाता है। देवनिरंजन बाल्यावस्था में एक मनौती के अनुसार साधुओं को अर्पण कर दिया गया। वह एक तरफ किशोरी के साथ गृहस्थ बनता है, दूसरी तरफ साधु होने का ढोंग रचता है। विजय उसका पुत्र है। उछृङ्खल जवानी के आवेश में पहले तारा की तरफ आकृष्ट होता है, फिर घंटी की तरफ, फिर गाला की तरफ।

जयशंकर प्रसाद हमारी मानव भावनाएँ प्रतिष्ठित करके हमें इनके प्रति आकृष्ट करते हैं और हमारी सहानुभूति जगाते हैं। हम बोध करने लगते हैं यह तो हमारे ही भाई-बन्धु हैं, उनकी दुर्बलता हमारी दुर्बलता।

× × × ×

उत्तम पात्रों के हृदय की दुर्बलताओं और शुभकामनाओं को लेकर ही कंकाल की विचित्र घटनाएँ घटित हुई हैं। उपन्यास के अन्त में भारतसंघ की स्थापना होती है। इसी सिलसिले में कई जगह कितने अनमोल वाक्य आए हैं—जिन्हें मन चाहता है हृदय-पटल पर अंकित कर लें। स्थानाभाव के कारण दो ही एक उदाहरण दूँगा। यथा—

यह झूठ है कि किसी विशेष समाज में स्त्रियों को विशेष सुविधा है। पुरुष यह नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, हृदय चाहती है।

× × × ×

स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता। स्त्री जिससे प्रेम करती है उसी पर सरवस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है; यदि वह भी उसका प्रेमी हो।

× × × ×

१९८९ में लिखा गया। उस समय विनोदशङ्कर व्यास की अध्यक्षता में पाक्षिक जागरण निकल रहा था। उसी में पहले-पहल तितली धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई। जागरण बन्द होने के साथ ही तितली भी अधूरी रह गई और फिर सं० १९९१ में प्रकाशित हो सकी।

सामुद्रिक ज्वार-भाटे की भाँति समाज और देश के इतिहास में भी उत्थान-पतन की लहरें उठा करती हैं। उत्थान के समय सामाजिक-नियमों, सदाचारों और आदर्शों की सृष्टि होती है। और इस तरह उस समाज के समस्त सदस्यों का व्यक्तित्व और उनकी प्रतिभा विभिन्न मार्गों का अवलम्बन करके एक धारा-विशेष में प्रवाहित होने लगती है। दीपक अपनी बत्ती के जरिये अपने भीतर का सम्पूर्ण तेल खींच कर अपने प्रकाश की लौ एक दिशा-विशेष में अभिमुख करता है। इसी तरह विभिन्न समाज अपने व्यक्तियों की प्रतिभा को सामाजिक नियमों, आचरणों औ आदर्शों के जरिये एक राह में खींच कर अपने भीतर एक सतत् लौ प्रतिष्ठित करते हैं; दीपक के लौ की भाँति यह लौ भी अनन्त के चरणों में उत्सर्ग।

समय आता है जब यह लौ क्षीण होते-होते काँपने लगती है। सामाजिक रूढ़ियाँ बिखर जाती हैं और समाज के विभिन्न व्यक्तियों की विभिन्न चेष्टाएँ, विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होने लगती हैं। ऐसे समय नए सिलसिले से समाज का निर्माण करके, उसमें दुबारा तेल भरके, फिर से बत्ती जलाने की जरूरत पड़ती है। जिन लोगों को दिशा-भ्रम हो गया है उन्हें दुत्कारने से काम न चलेगा, बल्कि उनके सहयोग से एक प्लेटफार्म का निर्माण करना चाहिये। कंकाल में ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर प्रसाद ने कंकाल और तितली की रचना की है।

कंकाल में हमारा ध्यान समाज के उस अङ्ग की ओर आकृष्ट किया जाता है जो एक बार फिसल जाने के कारण सदा के लिए उपेक्षित हो जाता है। हम उन्हें पतित समझ कर उनकी ओर से अपनी आँखें हटा लेते हैं। कंकाल में किशोरी जारज पुत्र की जननी है। तारा विधवा रामा की जारज सन्तान है। मेले में पिता से बिलग होने पर पहले वेश्या के चंगुल में पड़ती

है, फिर उद्धार होने के पश्चात्, एक पुत्र को जन्म देने के बाद, किशोरी के यहाँ परिचारिका के रूप में रहने लगती है। घंटी वृन्दावन की कुख्यात बाल-विधवा है, गाला हत्या-व्यवसायी बदन-गूजर की लड़की है। उसकी नसों में शाही खून है। पुरुष-सम्प्रदाय में श्रीचन्द्र व्यवसायी-हृदय है। समाज में मान-प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए पत्नी किशोरी को अलग रखने की व्यवस्था करता है। दोनों स्त्री-पुरुष की तरह रहने लगते हैं। तारा के गर्भ रह जाता है। यह सुनकर मंगल विवाह के ऐन मौके, तारा को छोड़कर भाग जाता है। देवनिरंजन बाल्यावस्था में एक मनौती के अनुसार साधुओं को अर्पण कर दिया गया। वह एक तरफ किशोरी के साथ गृहस्थ बनता है, दूसरी तरफ साधु होने का ढोंग रचता है। विजय उसका पुत्र है। उच्छृङ्खल जवानी के आवेश में पहले तारा की तरफ आकृष्ट होता है, फिर घंटी की तरफ, फिर गाला की तरफ।

जयशंकर प्रसाद हमारी मानव भावनाएँ प्रतिष्ठित करके हमें इनके प्रति आकृष्ट करते हैं और हमारी सहानुभूति जगाते हैं। हम बोध करने लगते हैं वह तो हमारे ही भाई-बन्धु हैं, उनकी दुर्बलता हमारी दुर्बलता।

× × × ×

उत्तम पात्रों के हृदय की दुर्बलताओं और शुभकामनाओं को लेकर ही कंकाल की विचित्र घटनाएँ घटित हुई हैं। उपन्यास के अन्त में भारतसंघ की स्थापना होती है। इसी सिलसिले में कई जगह कितने अनमोल वाक्य आए हैं—जिन्हें मन चाहता है हृदय-पटल पर अंकित कर लें। स्थानाभाव के कारण दो ही एक उदाहरण दूँगा। यथा—

यह झूठ है कि किसी विशेष समाज में स्त्रियों को विशेष सुविधा है। पुरुष यह नहीं जानते कि स्नेहमयी रमणी सुविधा नहीं चाहती, हृदय चाहती है।

× × × ×

स्त्रियों का एक धर्म है, वह है आघात सहने की क्षमता। स्त्री जिससे प्रेम करती है उसी पर सरवस वार देने को प्रस्तुत हो जाती है; यदि वह भी उसका प्रेमी हो।

× × × ×

करते थे। मधुश्रा इन्द्रदेव की भाँति मानव-स्वभाव के गुण-दोषों से पूर्ण है। उसमें महत् कामना है। वह अपने वातावरण में संघर्ष पाता है। खून के अपराध में जेल जाता है। लेकिन अन्त में तितली की भाँति हम भी देखते हैं कि जीवन-युद्ध का थका हुआ सैनिक मधुवन विश्राम-शिखर के द्वार पर खड़ा है।

कंकाल की भाँति तितली में कितने सुन्दर वाक्य हैं, जिन्हें याद कर लेने की इच्छा उठती है।

तितली और कंकाल—दोनों उपन्यासों में प्रसाद अपना मन्तव्य प्रकाशित करने के लिए घटनाओं का सहारा लेते हैं। कुछ उपन्यास-लेखकों में इतनी क्षमता होती है कि वे घटनाओं को वाद दे सकते हैं। पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्टडी में उन्हें इतना मसाला मिलता है कि वे पाते हैं, घटनाएँ तो मनोभावों की शारीरिक चेष्टामात्र हैं। इस तरह पाठक भी उपन्यास घटनाओं को इसी अनुपात में देखता है। प्रसाद के उपन्यासों के चरित्र घटनाओं के सहारे मन पर प्रस्फुटित होते हैं।

प्रसाद एक कुशल नाटककार हैं, इसीलिए उन्होंने अपने उपन्यासों में नाटक-तत्व का अच्छा सामञ्जस्य किया है। प्रेमचन्द अपने पहले के उपन्यासों में पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति समझाने के लिए स्वगत कथोपकथन का आश्रय लेते हैं, जोकि बाद के उपन्यासों में उन्होंने भी नाटकीय ढङ्ग का स्वागत किया है। प्रसाद अपने पहले उपन्यास कङ्काल में ही सफलता-पूर्वक नाटकीय-तत्व का सम्मिश्रण कर सके हैं। वह थोड़ा-सा वर्णन करते हैं, फिर पात्र स्वयं वार्त्तालाप-द्वारा कथानक को आगे बढ़ाने में समर्थ हो जाता है।

कवि होने के कारण प्रसाद के वर्णन में इतनी तीव्रता आजाती है कि पाठक झूमने लगता है। उदाहरण के लिए—

जूही की प्यालियों में मकरन्द मदिरा पीकर मधुपों की टोलियाँ लड़खड़ा रही थीं और दक्षिण पवन मौलसिरी के फूलों की कौड़ियाँ फेंक रहा था।

—कंकाल

घंटी के कपोलों में हँसते समय गड्ढे पड़ जाते थे। भोली मतवाली

आखें गोपियों के छायाचित्र उतारतीं और उभरती हुई वयस-सन्धि से उसकी चंचलता सदैव छेड़छाड़ करती रहती। वह एक क्षण के लिए स्थिर न रहती—कभी अँगड़ाइयाँ लेती तो कभी अपनी उँगलियाँ चटकाती। आँखें लज्जा का अभिनय करके जब पलकों की आड़ में छिप जातीं तब भी भौंहें चला करतीं। —कंकाल

शैला ने अपनी भोली आँखों को ऊपर उठाया। सामने से सूर्य की पीली किरणों ने उन्हें धक्का दिया; वे फिर नीचे झुक गईं। —तितली

फिर (शैला ने) अपने होठों को गर्म चाय में डुबो दिया जैसे उन्हें हँसने का दण्ड मिला हो। —तितली

प्रसाद एक दृश्य को चित्रित करने के लिए किस भाँति शब्द-जाल की रचना करते हैं।

प्रसाद मुख्यतः वार्त्तालाप-द्वारा उपन्यास के कथानक को आगे बढ़ाते हैं, इस तरह स्वभावतः उपन्यासों में एक कमजोरी भी आ जाती है। जिन उपन्यासों में कथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण-युक्त वर्णन के साथ प्रस्तुत की जाती है, उनमें वार्त्तालाप का अंश एक विशेषता प्राप्त कर लेता है। मुख्यतः वार्त्तालाप भी मनोवैज्ञानिक गुत्थियों पर ही प्रकाश डालता है और इस तरह उसका एक विशेष आकर्षण रहता है। वह कथानक को अप्रधान-रूप में आगे बढ़ाता है। इसके विपरीत नाटकीय ढंग के उपन्यासों में वार्त्तालाप के कुछ अंश का उपयोग कथानक को आगे बढ़ाने के लिए ही किया जाता है।

टेकनिक के लिहाज से तितली कंकाल से श्रेष्ठ है। कंकाल में विवि घटनाओं की जड़ें पात्रों के हृदय में गहरी नहीं जा सकीं। घटना के पश्चात उस घटना के साथ पात्र की मनोवैज्ञानिक-स्थिति का मेल बैठाने के लिए कु शब्दों की आवश्यकता पड़ती है।

कथावस्तु के लिहाज से यह बताना कठिन है कि दोनों उपन्यासों कौन श्रेष्ठ है। दोनों में वर्त्तमान की कुछ ज्वलंत समस्याओं पर प्रकाश ड गया है। सिर्फ यह बात खटकती है कि जब प्रसाद समाज में इतनी का

लाना चाहते हैं, तो वे राजनीतिक समस्या से कैसे विलग रह सके। क्योंकि सामाजिक समस्याओं का बहुत कुछ हल राजनीतिक समस्याओं में है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा है। यह किसी एक प्रान्त की नहीं, समस्त राष्ट्र की है। प्रसाद के उपन्यास भी समस्त राष्ट्र के हैं। तितली में गाँवों की समस्या है, जो समस्त राष्ट्र की है। यह देखकर खुशी होती है कि आज गाँवों की ओर ध्यान दिया जा रहा है। ऐसा कार्यक्रम प्रसाद बहुत पहले पेश कर चुके हैं। कंकाल में समाज की ठोकरों की धूल माथे से लगाने वाले व्यक्तियों द्वारा 'संघ' संस्था की योजना है।

प्रसाद जी की कहानी-कला

प्रसादजी पारस थे। साहित्य के जिस रूप से उन्होंने हाथ लगाया उसे ही जगमगा दिया। उनके काव्य को कौन सिर नहीं झुकाता, उनके नाटकों ने हिन्दी में युग-परिवर्त्तन किया। यही दशा कहानी क्षेत्र में है। प्रसादजी ने जिस समय लिखना आरम्भ किया उस समय हिन्दी पर बंगला का आतंक था। नाटकों में द्विजेन्द्रलाल राय की धूम थी। काव्य-कहानी में रवीन्द्र की। प्रसादजी ने बंगला की इन लहरों को झेला, और उनके कलाकार ने मौलिक रचनायें देकर उसके विचार और मानस के धरातल को ऊँचा कर दिया। बंगला के लिए जो लहक थी, उसका शमन प्रसादजी ने किया—वह प्रायः उसी कोटि की वस्तुयें देकर, जिसकी बंगला दे रही थी।

प्रसादजी की कहानियों का धरातल बहुत ऊँचा है। धरातल की ऊँचाई क्या? जैसे वे 'ममता' पर लिख रहे हैं। ममता विधवा है—उसका जीवन दुःख पूर्ण होगा, वह दुःख सहकर भी अपने सतीत्व की रक्षा करेगी—उसके सामने एक नहीं अनेकों प्रलोभन और संकट आ सकते हैं, पर वह डिगती नहीं, जहां है, वहीं अटल है। ऐसी 'ममता' यदि हो तो उसका धरातल साधारण होगा, पर प्रसादजी की 'ममता' यह सब 'साधारण' लिए हुए इससे ऊपर है। वह विधवात्व की समस्या लेकर नहीं, उसके सहारे मानवत्व के चिर प्रश्नों को उपस्थित करने के लिये उपस्थित हुई है। यह उसमें धरातल की ऊँचाई है। साधारण सामाजिक व्यवहार और आचार से उठकर वह कहानी मौलिक समस्याओं में परिणति पा लेती है।

दूसरा उदाहरण लें सालवती। प्राचीन काल में जनपद कल्याणी के रूप को तो उसमें स्पष्ट किया ही गया है, पर वह प्रसादजी की देन कहां प्रकट करता है? यथार्थ पुरुषत्व से स्त्रीत्व के खिंचाव की विफलता के रहस्य

का उद्घाटन करने में तथा स्वर्ण, स्वतन्त्र-विचार-तन्त्रता और अनुग्रह अस्वीकार करने के दम्भ की एक सीमा उभार कर रख देने में।

ऐसे ही देवरथ की ऐतिहासिक कहानी में उसके साधारण ऐतिहासिक कथा-विन्यास के ऊपर प्रसादजी की देन सुजाता के हृदय-निर्माण में हैं, जिसके द्वारा धर्म का निम्न धरातल ही खुलकर नहीं आता, मानव के मौन-प्रश्न पावन रूप में झाँकने लगते हैं, और हमारे समस्त सामाजिक संविधान की परीक्षा करने के लिये अग्रसर हो उठते हैं।

धरातल को इस ऊँचाई में ले जाने में लेखक का मानव-स्वभाव का सूक्ष्म अध्ययन और समस्यागत अनुभूति सहायक होते हैं। प्रसाद जो प्रधानतः मानव-सौंदर्य की अनुभूति के कवि और लेखक हैं, उनकी रचना में अद्भुत-आश्रित विस्मय (Wonder) से करुणा है। जिस सौन्दर्य को उन्होंने अपनाया है, वह मानवगत यथार्थ सौन्दर्य हैं वे उस सौन्दर्य की अनुभूति प्राप्त कर लेते हैं फिर उसके अनुकूल इतिहास-पुराण आदि से, नहीं तो कल्पना से ही, सामग्री और कथानक जुटा लेते हैं। विस्मयकारी सौन्दर्य अगति देता है, मनुष्य अवाक् है और देख रहा है, या उसके गीत गा रहा है; एक उत्तेजक सौन्दर्य होता है, वह गति को अपने में डुबा लेता है। करुणा-केन्द्रित सौन्दर्य मानव को चैतन्य कर देता है, और प्रगति के लिए ललकारता है। इसी करुणा की ललकार 'प्रसाद' जी की प्रत्येक कहानी में मिलती है। कथानक के सूत्र बढ़ते और उलझते-सुलझते वहीं विलीन हो जाते हैं जहाँ इस मानव-सौन्दर्य की झिलमिल उद्भुदित हो उठती है। सालवती चलती है, विनम्रदर्प से बड़े उत्थान के साथ मरीचिका में फँसती है और एली के यथार्थ सौन्दर्य की प्राप्ति उसे अभय में होती है। वहीं कहानी रुक जाती है और कहानी से अधिक यह अनुभूत सौन्दर्य हमें अभिभूत कर लेता है।

यह सौन्दर्य-दर्शन जैसे सत्य-दर्शन ही हो, इस दर्शन की परिभाषा नहीं हो सकती, गूँगे का गुड़-सा लगता है और प्रश्न ज्यों का त्यों नहीं, पहिले से भी प्रबल होकर हमारे सामने झूलने लगता है। कहानीकार हमको

उत्तर के पास लेजाकर छोड़ देता है, इस प्रकार कहानी में प्रश्न ही प्रश्न दिखाई पड़ता है। हल रखते हुए भी प्रश्न को प्रमुखता दे देने में ही प्रसाद जी की टेकनीक की विशेषता है।

फलतः प्रसादजी की कहानी की टेकनीक का सबसे प्रधान लक्षण यह है कि उसमें बीज और विकास की अवस्था में नहीं, कहानी में जैसे कोई एक बिन्दु विशद होकर उपस्थित हो गया है, और वह विशदरूप अपने में सौन्दर्य लिए उस बिन्दु से ही पूछता है 'ओ तू! मुझे आइना बना कर अपना रूप देख।' सालवती में स्वर्ण की चाह, अनुग्रह से बचना, स्वतन्त्र-विचार-तंत्र की आस्था विशद होकर' वैश्यात्व और जनपदीय दुर्बलता और भीषणता में प्रतिपादित हो उठना है; और यह विशद दर्शन उस बिन्दुसे पूछता है—'बोल अब तेरा क्या?' वह बिन्दु जब नितान्त क्षुब्ध होकर मानव-करुणा का शुद्ध पात्र बन जाता है, तभी पटाक्षेप। ऐसे स्थानपर विराम हो जानेसे हृदय का तंत्र एक दम झनकार उठता है, अथवा हूक उठता है। तभी प्रेम चन्दजी ने कहा था कि प्रसादजी की कहानियों का अन्त,

> 'अपने ढंग का निराला होता है—बड़ा ही भावपूर्ण, ध्वन्यात्मक और सहसा···पाठक का मन झकझोर उठता है,······वह एक समस्या को पुनः सुलझाने लगता है···।'

कहानी के इस तन्त्र (Technique) के साथ प्रसादजी ने एक और विशेषता रखी है। वह विशेषता ध्वन्यात्मक शैली का ही एक पूर्ण विकसित रूप है। कहानी के आरंभ से ही कहीं यह लगने लगता है कि कहानीकार इन पात्रों को अपने भावों की भाषा बनाकर जो कह रहा है वह तो निमित्त मात्र है, वह जो कहना चाहता है वह तो कुछ और ही है—तब कहानी रूपक-सी हो जाती है। 'आकाशदीप' में यह रूपक (Allegoy) बहुत ही पूर्णता के साथ है। वहाँ इन्द्रियाँ दस्यु हैं, मन और बुद्धि बन्दी हो रहे हैं। इसी प्रकार सम्पूर्ण कहानी आध्यात्मिक मनोविज्ञान की व्याख्या कर देती है। इस ध्वनन्यात्मक अर्थ को कहानीकार

इतनी सफलता से कहानी में समाप्त किया है कि साधारणतः यह विश्वास ीं किया जा सकता कि 'आकाशदीप' रूपक है। हम तो कहानी को समझते और उसका मूर्त रूप ही हमें यथार्थ विदित होता है।

इन सब तत्वों के कारण जहाँ यह सत्य है कि कहानी, कहानी की भाँति ी हमारे समक्ष आती है, वहाँ यह भी सच है कि एक गूँज-सी और एक ी-सी बड़ी प्रबलता से हमें स्पंदित कर देती है; कहानी अन्तिम स्थिति में ुँचकर जैसे किसी रहस्य में परिणति पा लेती है। इससे एक रहस्यवादी त्यय कहानी में लग जाता है। यह प्रत्यय ही बहुतों को भ्रम में डाल ता है और प्रसादजी के यथार्थ लोक को अलौकिकता का आवरण पहना ता है।

प्रसादजी की कहानी का पृष्ठपट बहुत विस्तृत होता है—समय की दृष्टि भी और कर्तृत्व की दृष्टि से भी। सालवती में उदाहरणार्थ पूरा एक ा का युग समा गया है, धवल यश, उनका स्वर्ण-प्रेम, उनका कुल-अभिमान, नकी मृत्यु, सालवती और कुलपुत्रों की भेंट, वसन्तोत्सव, जनपद की वस्था, जनपद कल्याणी का निर्वाचन-युद्ध, सालवती के पुत्रोत्पत्ति, अभय युद्ध-अभिमान, विजय और वैशाली लौटना, मार्ग में शिशु मिलना, आठ ; व्यतीत हो जाना फिर जनपद कल्याणी के निर्वाचन का अवसर, सालवती कुछ निश्चय—शस्त्रागार में जनपद कल्याणी के चले जाने का विरोध, लवती को अभय का स्वीकार करना—इतना सब कुछ उपन्यास जैसा स्तव्य इस कहानी में है। यही नहीं विविध दार्शनिक वार्तायें और विपाद इसी छोटी कहानी में समाये हुए हैं। पात्रों की भी कम भीड़ नहीं। ापि इतनी भीड़ कुछ अन्य कहानियों में नहीं भी है जैसे 'मधुआ' में, पर ानी का पृष्ठपट छोटा करते-करते भी बड़ा हो गया है। कथा-सूत्र में ज-विकास-फलागम की भारतीय नाटक-प्रणाली का अनुमोदन भी हुआ ता है। सालवती में ही जैसे पहले 'अभय' का सालवती को उपहार देना ज होगा। अभय और सालवती का विविध संघर्षों में होकर चलना विकास, अन्त में सालवती का अभय को ग्रहण करना फलागम। सालवती तो

एक उदाहरण है। उनकी कहानियों में यह तन्त्र ढूँढने से विद्यमान ही मिलेगा। इसके साथ संघर्ष भी शून्य नहीं। वह अन्तर-अन्तर में अत्यन्त प्रबल रहता है—किसी भी कहानी को क्यों न लिया जाय। 'देवरथ' को देखिये। आर्यमित्र और सुजाता तथा संघस्थविर के घोर अन्तःसंघर्ष पर ही कहानी टिकी हुई है। सालवती में भी अभय और सालवती का अन्तर्द्वन्द्व कितना भीषण है। किन्तु इतनी विशेषता, और यह विविधता सब प्रसादजी के अपने कहानी-तन्त्र की अंगभूत विशेषतायें हैं और ये सब मिलकर, सिमिटकर एक विन्दु में समाई हुई रहती हैं, और इतने बड़े पृष्ठपट पर केवल एक बड़ा विन्दु ही कहानी की भाँति चित्रित दीखता है।

उनके इसी तन्त्र (Technique) के कारण उनके पात्रों में एक अनोखापन आ जाता है। किसी ने ठीक कहा है:—

"नूरी का प्रेमी 'याकूब,' 'बेला' का उपासक 'गोली' और 'सालवती का 'अभय' प्रसादजी के मस्तिष्क ही में जन्म ले सकते थे।" उनके पात्रों में यह अनोखापन क्यों?

स्थूल रूप से इन पात्रों में दो बातें मिलती हैं, एक तो उनके व्यक्तित्व का शक्तिशाली केन्द्र दूसरे उस केन्द्र में वैधानिक (Sensitivity) संवेदन शीलता। केन्द्र उनका कभी विचलित नहीं होता इसलिए उनमें एक चारित्रिक दृढ़ता के दर्शन होते हैं, यहाँ तक कि वह पात्र 'आदर्श' की सीमा तक पहुँचा हुआ दीखता है, इसको आवृत्त किये रहती है वह वैद्युतिक संक्षोभन-शीलता—जो बाहर आचार में 'शील' का पर्याय बन जाती है। उनके पात्र, फलतः शील-शिष्टता की मूर्ति लगते हैं। यह शील संक्षोभ का परिणाम है, शील के विश्राम का नहीं। यह शील-संभोग अपने केन्द्र पर ही उग्र घोर प्रतिक्रिया और प्रत्याघात करता है और केन्द्र को दृढ़ बनाता हुआ, क्षोभ से विरक्त होने लगता है। पात्रों में एक (Complex) भाव-मंडल पैदा हो जाता है। इसी भावमंडल की सृष्टि में प्रसादजी करुणा के बीज छिपा देते हैं। पात्र का बाह्य अन्तःस्था ही रहता है, अन्तर उग्र हो जाता है। पात्र कछुए की भाँति अन्तर्मुख ही रहते हैं। साथ ही वे उस अन्तर्मुक्ति के

लिए दूसरों में मोह उत्पन्न कर देते हैं। यह अन्तर्गति भीतर ही भीतर एक ऊष्मा, एक तड़प बाहर प्रसारित करती रहती है। इन सब कारणों से एक रहस्य का ऊष्म आवरण फैल जाता है। पात्र में एक चमक भी आ जाती है।

इस पात्र-चित्रण का केन्द्र प्रेम ही होता है, प्रेम के सम्बन्ध में लेखक की मान्यता पवित्र और रंग-बिरंगी है। उसे यह भी विश्वास है कि प्रेम अपनी ओर आकर्षित करता है, इसीलिए जिसमें प्रेम का केन्द्र वे आरोपित करते हैं उसको दार्शनिक मति से बाह्यतः (Passive) निश्चेष्ट और उदासीन बना डालते हैं। प्रेम के केन्द्र में शक्ति भी बहुत होती है इसीलिए वह जिन बाह्य अनुष्ठानों में प्रवृत्त भी होता है सफल ही होता है—यह तत्व उसकी ओर से ध्यान को विशृङ्खलित नहीं होने देता और दूसरों की सहानुभूति का पात्र बना देता है, अतः जो आचार अन्यथा पलायन या कायरता कहलाता वह शौर्य के रंग से भर उठता है। उपेक्षा में भी शौर्य होता है, इसे प्रसादजी के पात्र ही स्पष्ट करते हैं। इनसे पात्रों में एक अनोखा सौन्दर्य छलक उठता है।

एक और विशेषता उनके पात्रों में मिलती है जिससे वे सहज ही करुण-स्नेह और रहस्य की त्रिवेणी में स्नान कर उठते हैं—वह है उनका एकाकी होना। प्रत्येक पात्र संसार-समाज से अलग एक इकाई की भाँति अपने और अपने भावलोक पर विश्वास करता हुआ आगे पग बढ़ाता है। उनके कहानियों के पात्र इसलिए करुणा तो उदय करते हैं साथ ही स्नेह का बल उन्हें बहुत भारी होता है—उसी के बल पर वे शून्य-निर्जन किन्तु प्राकृतिक सुषमापूर्ण स्थलों में निर्भीक विचरण करते हुए मिलते हैं। वे बाह्य से अधिक अन्तर से अभिभूत रहते हैं। और उसी अन्तर-अभिभूति में से वे प्रकृति के काव्य को देखते हैं। फलतः कोई-कोई रचना उनकी केवल करुण कुतूहल का एक बुदबुद होकर रह जाती है, और पीछे तो उतना नहीं आवे तो विविध अस्पष्ट भावों का रहस्यमय सागर ही उमड़ता दिखलाई पड़ने लगता है।

[illegible]

कहानियाँ सूरदास के उन्मुक्त संगीत के समकक्ष होगयी हैं, 'प्रेम की पीर' उनमें जायसी से भी अधिक घनीभूत हो उठी है। जायसी ने प्रेम की पीर को प्रकट करने के लिए पद्मावती की सृष्टि की, किन्तु सुजाता, बेनी, नूरी, चम्पा, किन्नरी, पद्मा जैसी अनेकों मांसल रेखाएँ स्वयं प्रेम की पीर हो उठी हैं।

फलतः प्रसादजी की प्रायः प्रत्येक कहानी उनके हृदय-मंथन की एक क्षण की एक निजी कहानी कहती है। रायकृष्णदासजी ने 'इक्कीस-कहानियाँ' की भूमिका में लिखा है—

"प्रसादजी ने एक बार इन पंक्तियों के लेखक से प्रसंगवश एक बात कही थी, जिसका भाव लेकर कहानी की परिभाषा यों बनाई जा सकती है—आख्यायिका में सौन्दर्य की एक झलक का रस है। मान लीजिये कि आप किसी तेज सवारी पर चले जा रहे हैं, रास्ते में गोलमटोल शिशु खेल रहा है, सुन्दरता की मूर्ति। उसकी झलक मिलते न मिलते भर में सवारी आगे निकल जाती है। किन्तु उतनी ही झलक ऐसी होती है कि उसकी स्थायी रेखा आपके अन्तर्पट पर अंकित हो जाती है। यही काम कहानी भी करती है।" इससे प्रसादजी की कहानियों की परिभाषा तो निश्चय ही हो जाती है।

उनके इस सौन्दर्य-दर्शन ने और करुणा ने कहानियों में उन अछूते लोगों को हमारे समक्ष सुन्दर सुनहले रंगों में उपस्थित कर दिया है जिनकी ओर शिष्ट-समुदाय कभी आँख उठाकर देखना भी स्वीकार न करेगा—हीन कंजरों, गुण्डों, दस्युओं भिखारियों, भिल्लों, बनजारों में वह [illegible] और उन्हें इस चश्मे से देखता। प्रसादजी ने इन हेय प्राणियों [illegible] के जो राग-पूर्ण, उज्ज्वल चित्र अंकित किये हैं, उनसे उ[illegible] विलीन होकर महानताओं में परिणत हो गयी हैं, और शिष्ट-स[illegible] की कृत्रिम शिष्ट-रेखायें उन क्षुद्र महानताओं की निस्सीम विशद [illegible] चूर-चूर होने लगी हैं। यही तो कलाकार है, जो प्रगति[illegible] बन अनन्त उज्ज्वल भावोदधि के रंगबिरंगे रत्न बिखेर उठ[illegible] की कहानियों में ही यह विशदता मिलेगी कि प्रेम के शतरंग[illegible] [illegible] को [illegible] करते हुए भी उसे कहीं विला[illegible]

अंधेरे प्रकोष्ठ में कामुक इंगितों और पूंजी-वैभव के नरक विचारों का खिलौना नहीं बनने दिया। उनके पात्र बुलबुल हैं या कोकिल हैं जो अपने शस्य-सुषमामय वर्नों में संसृति प्रपंच से उड़कर अपनी मनोमय चहक अथवा कूक से कालुष्य और मलिनताओं के तीव्र कोलाहल को उधेड़कर रख देती हैं और अपने तराने की मस्ती में एक दिव्यता भरकर कह उठती हैं, "इसे देख यह है।"

प्रसादजी की आरंभिक रचनाओं में किशोरीलाल गोस्वामी के द्वारा अपनायी बंगशैली के दर्शन होते हैं, जिसमें भावों की रंगीनी के स्थूल विकारों का प्रदर्शन करने के लिए शब्दों की रंगीनी का आश्रय लिया गया है। पर 'आकाश दीप' तक आते आते उनके अंतरस्थ कला के गहरे सागर के हृदय की झलक पूरी तरह उभर आयी और वे कल्पना के हिमधौत लोक में ऊँची से ऊँची चोटी पर उषा रंग में रंगकर जा पहुँचे—हिमालय के पथिक बने, स्वर्ग के खंडहरों में विचरे। वहाँ से करुणा और सौन्दर्य तथा प्रेम की यथार्थ अनुभूति लेकर वे 'इन्द्रजाल' और 'आंधी' की रचना करने बैठे—उनकी दृष्टि शतधा हो गयी, कल्पना की रंगीनी यथार्थ में से, जगत के जीवन में से, अस्पृश्य क्षेत्रों में से उमड़ने लगी।

जहाँ कहानियों में रहस्य उमड़ता मिलता है, वहाँ तो कहानीकार अद्भुत है, पर कहीं-कहीं कहानीकार ने भावों को रूपक की भाषा देकर उपस्थित किया है जैसे 'कला' में। वहाँ वह रूपक से दुर्बल हो उठा है। ऐसे प्रयास के क्षण प्रसाद में या तो आरंभ में हैं या कहीं-कहीं थकावट की भांति बीच में हैं, इन्हें उनकी सौन्दर्य-सुषमा के आनन्द या कसौटी ही मानना होगा।

प्रसाद की विचारधारा



प्रत्येक कवि में एक विशेष मादकता रहती है जो कि उसके हृदय के मधु से उत्पन्न होती है। उसके हृदय की हाला उफन-उफन कर काव्य-धारा में प्रवाहित होने लगती है और पहले वह उसे मस्त कर दूसरों में मादकता उत्पन्न करती है। प्रसादजी में भी एक मादकता है किन्तु उनकी मादकता में एक गति-विधि है, उनके हृदय की हाला का उफान उन्मत्त का-सा प्रलाप नहीं है। वह अकाराड ताराडव नहीं है। उसमें गति और लय है। वे कवि हैं, उनमें कल्पना है और भाव हैं किन्तु भावना के साथ विचार भी हैं। उनके काव्य में कामायनी की कथावस्तु की भाँति मन का कामायनी अर्थात् भावना के साथ परिणय तो है ही किन्तु उससे सारस्वत प्रदेश वासिनी इला (बुद्धि) का भी सहयोग है। वह श्रद्धाहीन सहयोग नहीं है जिससे कि विनाश और संसार की क्षति होती है वरन् ज्ञान, कर्म और इच्छा से समन्वित हिमाचल की उच्च भूमि में वास करने वाले श्रद्धासंयुक्त मन की सेवा करने वाली कल्याणमयी बुद्धि का सहयोग है जिससे कि शाश्वत आनन्द की उपलब्धि होती है। विचारहीन भावना अन्धी है और भावनाहीन विचार

अङ्क नहीं दिखलाई पड़ते हैं। जिन लोगों का तोष युक्तिवाद रूपिणी कुदालों के आघातों बिना नहीं होता उनको कवि की वाणी में अधिक सार न दिखलाई पड़ेगा किन्तु सरस हृदयों में उनकी वाणी अपना चमत्कार दिखलाए बिना न रहेगी। मैं इतनी बात और कह देना चाहता हूँ कि कवि दार्शनिक वा उपदेशक की भाँति अपने विषय का प्रतिपादन नहीं करता है। उसके भाव उसकी वाणी में स्वयं ही अभिव्यञ्जित हो जाते हैं। वास्तव में यदि हम कुछ सार पाना चाहते हैं तो उसकी पंक्तियों की ध्वनि में ही मिल सकता है। कभी-कभी तो कवि अपने आप कुछ नहीं कहते हैं वरन् उनके रचे हुए नाटकों या कथाकाव्यों के पात्र ही उनके भावों की व्यञ्जना करते हैं और बहुत-सी जगह तो यह भी पता नहीं चलता कि कवि किन भावों को अपनाता है और किन भावों को जनता के वकील की हैसियत से कहता है। तो भी उसके विषय के चुनाव तथा नाटक के अन्त से उसके विचारों का कुछ पता चल जाता है।

सबसे पहले हम प्रसादजी के दार्शनिक विचारों को लेंगे। प्रसादजी के काव्य-ग्रन्थों के सम्बन्ध में मेरा अध्ययन न विस्तृत ही है और न बहुत गम्भीर है। कवि दर्शन-शास्त्र के अन्तिम तत्वों की ओर जा भी नहीं सकता। उसका सम्बन्ध जीवन से है और हम उसके दार्शनिक विचारों को भी जीवन के सम्बन्ध में ही देख सकते हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में प्रसादजी अधिक नहीं कहते हैं। मनु भी अपने को एक जलमयी सृष्टि में पाता है। इस सम्बन्ध में कुछ पता चलता है तो यही कि वे उसे मनोमय ही मानते हैं और वे प्रत्ययवाद (Idealism) की ओर अधिक झुके हुए हैं। नीचे की पंक्तियों में इस बात का कुछ आभास-सा मिलता है—

नव मुकुर नील मणि फलक अमल,
ओ पारदर्शिका ! चिर चंचल
यह विश्व बना है परछाईं।

इसके अतिरिक्त उनके प्रकृति के वर्णनों में मानव-भाव ओत-प्रोत मिलते हैं।

हिम-शैल बालिका कलरव संगीत सुनाती अतीत युग की गाथा गाती हुई सागर से मिलने जाती है और अनन्त मिलन के उपलक्ष में फेनिल सीत बिखराती है। चन्द्रसूर्य और ऊषा सब प्रेम की पुकार करते हैं। ऊषा नागरी अम्बर पनघट में ताराघट डुबोती है और लतिका मधु मुकुल नवल रस भर लाती है।

उनके प्रियतम भी उनसे प्रकृति-द्वारा ही आँखमिचौनी का खेल खेलते हैं, देखिए—

निज अलकों के अन्धकार में
तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो,
यह न कभी बन पाओगे ?
आह चूम लूँ जिन चरणों को
चाँप-चाँप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना, अरे अरुणिमा
ऊषा-सी वह उधर बही।
वसुधा चरण-चिह्न-सी बनकर
यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रज कुंकुम ले चाहे
अपना भाल सजावेगी।
देख न लूँ इतनी ही तो इच्छा !
लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन-उँगलियों से
ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ।

भगवान् के अस्तित्व को मानते हुए वे इस बात की विवेचना नहीं करना चाहते हैं कि वे कैसे हैं किन्तु उनसे वे चिर-मिलन चाहते हैं। कबीर या दादू का नमक की पुतली का समुद्र में व्यक्तित्व खो देने वाला मिलन नहीं वरन् जलधि और क्षितिज का-सा देखिए—

तुम हो कौन और मैं क्या हूँ?
इसमें क्या है धरा सुनो।
मानस जलधि रहे चिर-चुम्बित—
मेरे क्षितिज उदार बनो।

प्रसादजी प्राचीनता के उपासक और भारतीय-संस्कृति के भक्त हैं। वे बुद्ध धर्म से भी बहुत प्रभावित हैं। लहर में बौद्ध धर्म सम्बन्धी दो बड़ी सुन्दर कविताएँ मिलती हैं।

'अरी वरुणा की शान्त कछार' से आरम्भ होने वाली कविता में बौद्ध-धर्म का सार बड़े सुन्दर शब्दों में दिया है। देखिए—

छोड़कर जीवन के अतिवाद,
मध्य पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार।
विश्व मानवता का जय-घोष,
यहीं पर हुआ जलद-स्वर मंद्र।
मिला था वह पावन आदेश,
आज भी साक्षी है रवि चन्द्र।

बुद्ध धर्म की विश्वमानवता, करुणा, और दुखवाद से वे जरूर प्रभावित हैं किन्तु वे उसके शून्यवाद को नहीं मानते। वे उसके शून्यवाद में उपनिषदों की 'नेति-नेति' की झलक देखते हैं।

"अहंकार मूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया···उपनिषदों के नेति नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है····व्यक्ति रूप से आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।"

वे दुखवाद और क्षणिकवाद दोनों ही मानते हैं किन्तु उतने पर ठहर नहीं जाते। वे क्षणिक के भीतर शाश्वत सौन्दर्य के दर्शन करते हैं और विश्वात्मा की पुकार सुनते हैं। वे उसमें अपनी वीणा के स्वर को मिला देना चाहते हैं। इस परिवर्तनशील विश्व में वे एक अटल सत्ता का परिचय पाते हैं।

छिप जाते हैं और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस से सिंचे हुए
सिर नीचाकर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ;
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहाँ?
हे अनन्त रमणीय! कौन तुम?
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो? क्या हो? इसका तो
भार विचार न सह सकता।
हे विराट! हे विश्व देव! तुम
कुछ हो ऐसा होता भान
मन्द गम्भीर धीर स्वर-संयुत
यही कर रहा सागर गान।

(कामायनी)

प्रसादजी दुखवादी अवश्य हैं क्योंकि दुख के अस्तित्व को आशावाद में भुला नहीं सकते किन्तु उनका दुखवाद सुखवाद से विमुक्त नहीं है। संसार में दुख-सुख दोनों का ही अस्तित्व है। यद्यपि सुख क्षणिक है तथापि वह इसलिए उपेक्षणीय नहीं है—

'अन्धकार का जलधि लाँघ कर
आवेंगी शशि-किरनें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन
निशि में मधुर तुहिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,

जो कुछ अपने सुन्दर से हैं
दे देने दो इनको. ॥"

× × × ×

मानव-जीवन वेदी पर
परिणय है विरह मिलन का
दुख-सुख दोनों नाचेंगे
है खेल आँख का मन का

वास्तव में सुख-दुख ममत्व का खेल है यदि मनुष्य अहंकार-भाव को मिटा दे तो उसके लिए न दुख रहता है और न सुख।

हो उदासीन दोनों से
दुख-सुख से मेल कराएँ
ममता की हानि उठा कर
दो रूठे हुए मनाएँ (आँसू)

यही गीता का भी उपदेश है। वास्तव में मनुष्य अहङ्कार को छोड़ दे तो सुख-दुख न रहे। संसार में सुख दुख का मेल है। इसलिए सुख में दुख को भूलना नहीं चाहिए।

प्रसादजी का दुखवाद अतृप्त वासना का दुख नहीं है। सुख की अतिशयता स्वयं दुख में परिणत हो जाती है। मिलन में विच्छेद लगा रहता है। जीवन में मृत्यु की छाया का मिश्रण रहता है, इसीलिए एक के हर्षोल्लास में दूसरे को न भूलना चाहिए। प्रेम में कुछ मिलना होता ही नहीं है। प्रेम के अभाव को सारा संसार पुकार रहा है किन्तु प्रसादजी कहते हैं कि उसका पाना नहीं होता उसमें देना ही होता है। जब उसकी स्थिति ही ऐसी है तब उसमें निराशा या असन्तोष के लिए कहाँ गुञ्जायश है।

पागल रे! वह मिलता है कब
उसको खो देते ही हैं सब
आँसू के कन-कन से गिन कर
यह विश्व लिए है ऋण उधार

तू क्यों फिर उठता है पुकार ?
मुझको न मिला रे कभी प्यार।

प्रसादजी ईश्वर के सम्बन्ध में अज्ञेयवादी नहीं हैं। उनकी कविता में पूर्ण आस्तिकवाद की झलक है। इतना ही नहीं वे राम कृष्ण आदि के लिए भी बड़े श्रद्धा के भाव रखते हैं। कंकाल में वर्णित भारतसंघ के सम्बन्ध में कहे हुए स्वामी कृष्णशरण के वचनों में उनके धार्मिक विचारों की कुछ झलक मिल सकती है। उन विचारों में धर्म के ढोंग और आडम्बर के लिए स्थान नहीं। वास्तव में मानवता ही उनका धर्म मालूम पड़ता है। राम कृष्ण भी उसी मानवता की मूर्ति होने के कारण उपास्य बने थे। प्रसादजी अपनी कविताओं में तो कुछ द्वैतवाद की ओर झुके मालूम होते हैं, किन्तु नाटकों में अद्वैतवाद की झलक मिलती है—

हम सब में जो खेल कर रहा अति सुन्दर परछाँई-सा
आप छिप गया आकर हम में फिर हमको आकार दिया
पूर्णानुभव करता है जो 'अहमित' से नित सत्ता का
'तू मैं ही हूँ' इस चेतन का प्रणवमध्य गुञ्जार किया

प्रसादजी यह मानते हुए मालूम पड़ते हैं कि जो कुछ होता है ठीक होता है। यह बात जनमेजय के नाग-यज्ञ में दिखलाई पड़ती है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में वेदव्यासजी को नियतिवादी दिखलाकर प्रसादजी ने इस ओर अपना झुकाव दिखलाया है। यही नहीं कहा जा सकता कि स्वयं उनके विचार क्या हैं।

उनके धर्म में कर्मकाण्ड को एक गौण स्थान मिलता है। कामायनी में कर्म को सकाम चित्रित किया है। कर्म में वे हत्याकाण्ड के तो घोर विरोधी हैं। बलिदान के विरुद्ध उनके विचार स्थान-स्थान पर निकल पड़ते हैं। करुणालय में नरबलि के विरुद्ध बड़ी जोर की आवाज उठाई गई है। स्कन्दगुप्त में भी बलिदान का घोर-विरोध किया गया है। जनमेजय के नाग-यज्ञ में [illegible] किया गया है। कामायनी में भी श्रद्धा और मनु का बलिदान के कारण ही मन मैला हुआ। इड़ा भी जन-संहार के सम्बन्ध में

क्या सुन्दर उपदेश देती है—

"क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले"

"Live and let live" इस उपदेश को यदि जर्मनी और जापान वाले अपने हृदय में धारण कर सकें तो संसार का कितना कल्याण हो।

प्रसादजी के सामाजिक विचार बड़े उदार मालूम होते हैं। वर्ण व्यवस्था को वे मानते हैं किन्तु वे उसको दूसरों पर अत्याचार करने का साधन नहीं बनाना चाहते। वे स्वामी कृष्णशरण के मुख से कहलाते हैं—

'वर्ण भेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना, परन्तु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण-बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा, गुण कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, अभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई।"

स्त्रियों के अधिकारों के ये पूर्ण पक्षपाती हैं। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' में आप पूर्ण विश्वास रखते मालूम पड़ते हैं। ध्रुवस्वामिनी में नारी-सत्व का बड़ा ओजपूर्ण प्रतिपादन मिलता है। स्त्रियाँ पुरुष की सम्पत्ति नहीं है। वे दाम्पत्य सम्बन्ध को सहज में ठुकरा देने की वस्तु नहीं मानते। किन्तु यदि पुरुष अपने उत्तरदायित्व को भूल जाय, माँगी हुई शरण न दें, स्वेच्छाचार करें तो आपत्ति धर्म में स्त्रियाँ ध्रुव स्वामिनी की भाँति अपना पथ निश्चित कर सकती हैं। इसी के साथ-साथ वे स्वतन्त्र प्रेम के भी पक्षपाती नहीं मालूम पड़ते। एक घूँट में स्वतन्त्र प्रेम के प्रचारक आनन्दजी प्रेमलता के हाथ से शरबत का एक घूँट पीकर विवाह के बन्धन में बँध जाते हैं।

प्रसादजी पारिवारिक जीवन में सबसे हिल-मिल कर रहने और सम्मिलित परिवार के पोषक प्रतीत होते हैं। वे सुखी परिवार का आदर्श अजातशत्रु में किन सुन्दर शब्दों में वासवी के मुख से कहलाते हैं—

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में,
कुल-लक्ष्मी हों मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में।
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत अनुचर,
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर॥

प्रसादजी के राजनीतिक विचार बड़े उदार हैं। वे गान्धीजी की भाँति राजनीति को धर्मनीति के अधीन रखना चाहते हैं। उनमें सन्तोष की मात्रा अधिक है। जियो और जीने दो के मानने वाले मालूम होते हैं, किन्तु मान-मर्यादा के साथ। मानहीन जीवन से तो मरना ही भला समझते हैं। वे मर जाने को तो अच्छा समझते हैं किन्तु संहार के विरोधी हैं।

महाराज अशोक की चिन्ता में इस बात को उन्होंने भली प्रकार बतलाया है—

दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर, क्यों गूँज रही है अस्थिर
कर विजयी का अभिमान भंग, यह महा दम्भ का दानव—
पीकर अनङ्ग का आसव—कर चुका महा भीषण रव
सुख दे प्राणों को मानव, तज विजय पराजय का कुढंग।

वे उस महत्वाकांक्षा के पक्षपाती नहीं जिसमें संहार हो। वे राजाओं के अबाधित अधिकार के भी हिमायती नहीं। इला कहती है—

आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा,
निर्बाधित अधिकार आज तक किसने भोगा
× × × ×
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्र की इस काया में
ताल-ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें,
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।

कामना के भरतवाक्य में उन्होंने बतलाया है कि राजा को प्रजा से मिलकर रहना चाहिए।

प्रसादजी की रचनाओं में स्थल-स्थल पर सुन्दर विचार भरे पड़े हैं। वे आज कल के यन्त्रवाद के भी विरुद्ध मालूम होते हैं—

प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सब की छीनी
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

विस्तार-भय से लेख को यहीं समाप्त करना पड़ता है। जीवन के लिए वे इच्छा, क्रिया और ज्ञान का समन्वय चाहते हैं जिससे श्रद्धा के साथ मन रह सके—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म दे,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धा युत मनु बस तन्मय थे।

प्रसादजी का प्रकृति-वर्णन

मानवी या प्राकृतिक सुषमा सभी।
दिव्य-शिल्पी के कला-कौशल सभी॥ —प्रसाद

कविता, संसार के प्रति हमारी भावमयी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति है। उसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध, जिसमें आकर्षण और विकर्षण दोनों ही शामिल हैं, स्थापित होता है। कवि मानव तथा मानवेतर सृष्टि के जिसमें जल, थल, आकाश के गर्भ स्थित तथा उनमें विचरने वाले जीव-जन्तु शामिल हैं, सम्पर्क में आता है और अपनी मनन-शीलता के अनुकूल उनको अपनी भावना का विषय बनाता है। वैज्ञानिक का भी सृष्टि के साथ सम्बन्ध रहता है किन्तु वह रागात्मक नहीं होता। उसके लिए सुन्दर-असुन्दर और प्रिय-अप्रिय कोई अर्थ नहीं रखते।

साहित्य में दोनों प्रकार की सृष्टियों का वर्णन हुआ है किन्तु मानव-सृष्टि का अधिक। इसका कारण है रागात्मक सम्बन्ध के लिए प्रतिस्पन्दन आवश्यक तो नहीं है किन्तु उसके होने से सम्बन्ध में दृढ़ता आ जाती है। मानव सृष्टि में भावों के प्रतिफलन की जितनी सम्भावना रहती है उतनी मानवेतर सृष्टि में नहीं, यद्यपि उसका क्षेत्र कहीं अधिक विस्तृत है। कवि स्वयं मनुष्य होने के नाते मानव-हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-लहरियों का सुविधापूर्वक अनुमान कर सकता है। मनुष्य की मुखाकृति भाव-भङ्गियाँ और वे सब शारीरिक दशाएँ और चेष्टाएँ जो अनुभावों के अन्तर्गत मानी जाती हैं इस प्रकार के अनुमान की साधिका बनती हैं। इनके अतिरिक्त भाषा तो आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति की सहज माध्यम है ही। जानवरों में, कम से कम उनमें जो विकास-क्रम में ऊँचा स्थान पाते हैं हमारी सी भाषा का अभाव होते हुए भी प्रायः हमारे से ही भावों के सूचक अनुभाव होते हैं।

उनके द्वारा जानवरों के मनोगत भावों का कुछ अन्दाज लग जाता है और किसी न किसी रूप में उनमें चेतना का भी अस्तित्व मिलता है। उनसे हमको अपने भावों के प्रतिस्पन्दन की आशा रहती है। वे रागात्मक सम्बन्ध की अधिक क्षमता रखते हैं किन्तु उसका साहित्य में अधिक लाभ नहीं उठाया गया है। वे अन्योक्तियों का विषय बनाये गये हैं और कहीं-कहीं उनके भावों का भी वर्णन हुआ है—जैसे सूर ने श्रीकृष्णजी की गौओं का और तुलसी ने रामजी के घोड़ों का विरह-वर्णन किया है।

मानव शरीर के उपमानों के रूप में जानवरों के सौन्दर्य का भी वर्णन हो गया है—जैसे मृगशावकाक्षी, गजगामिनी। अब प्रश्न यह है कि जड़ प्रकृति के साथ हमारा किस अर्थ और किस अंश में रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो सकता है? प्रकृति के सौम्य और विकराल दोनों ही रूप देखने में आते हैं। वह हमको हँसती-रोती उद्वेलित और उल्लसित होती हुई प्रतीत होती हो किन्तु हम उतने निश्चय के साथ नहीं कह सकते हैं कि उसके हासोल्लास और गर्जन-तर्जन के पीछे कोई चैतन्य या भावमय आधार है या नहीं? जानवरों के सम्बन्ध में मानवी भावों का अनुमान हो किया जाता है किन्तु जड़-प्रकृति में उनका आरोप सा करना पड़ता है। कभी-कभी यह आरोप इतना सच्चा और सजीव होता है कि भावुक हृदय का प्रकृति के साथ भावों का आदान-प्रदान होता सा मालूम पड़ता है।

प्रकृति में भावमयी चेतना चाहे हो या न हो किन्तु उसमें हमारे भावों को जाग्रत और उद्दीप्त करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में है। रही, प्रतिस्पन्दन की बात, वह तो कभी-कभी मानव-सृष्टि में भी नहीं होता दिखाई देता। बहुत से लोग अपने स्रष्टा की भाँति ही प्रतिस्पन्दन-शून्य होते हैं फिर बिचारी जड़ प्रकृति से क्या आशा की जा सकती? हमारे भावों का प्रकृति पर कोई असर पड़ता है या नहीं इस बात को सर जगदीशचन्द्र वसु भी प्रमाणित नहीं कर सके, किन्तु हमारे मनोभावों के कारण प्राकृतिक दृश्यों के अनुभव में अवश्य अन्तर पड़ जाता है और वे भी हमारे भावों की गति-विधि में थोड़ा अन्तर डाल देते हैं। प्रकृति हमारी धात्री है। उसके जलवायु से हमारा शरीर

पुष्ट हुआ है, उससे हम भाग नहीं सकते है। मौन रहते हुए भी वह हमको सहचार सुख देती है। हमारे सम्पर्क में आने से जड़ पदार्थ भी हमारे मोह और आसक्ति का विषय बन जाते हैं। जो लोग प्रकृति में विश्वात्मा की अभिव्यक्ति मानते हैं उनके लिए प्रकृति को चेतन मानने में कुछ कठिनाई नहीं होती किन्तु उसको व्यक्तित्व प्रदान कर उसके मानवीकरण में कल्पना को जाग्रत करना पड़ता है; शायद उतना ही जितना कि नाटकों में नट को दुष्यन्त मान लेने में। रूपकों में जितना आरोप द्वारा हमको आनन्द मिलता है उतना हमको प्रकृति के मानवीकरण से भी प्राप्त हो सकता है। वर्णन में सजीवता चाहिए और पाठक में ग्राहक हृदय। वस्तु में भावारोप के लिए जितनी क्षमता चाहिए उतनी प्रकृति में मिल जाती है। हम यदि सच्चे मानव हैं तो मानवता के विस्तार में हमको आनन्द ही मिलेगा। अपने गोत्र को बढ़ते हुए देखकर किसे आनन्द नहीं मिलता ? कुछ अंग्रेजी आलोचकों ने प्रकृति को अपने साथ रुलाने-हँसाने को संवेदना का तर्काभास (Pathatic Fallacy) कह कर उसे वर्ज्य सा ठहराया है। जायसी आदि ने प्रकृति की मानव के साथ सहानुभूति दिखाई है किन्तु जहाँ उत्प्रेक्षा लगाई जाती है वहाँ ऐसा वर्णन दूषित नहीं रहता।

प्रसादजी आस्तिक कवि थे। वे परमात्मा को प्रकृति में व्याप्त देखते थे। विश्वात्मा से अनुप्राणित होने के कारण प्रकृति उनके लिए विशेष अनुराग का विषय बन जाती है। आस्तिकता का आधार पाकर उनकी प्रकृति सम्बन्धी सौन्दर्योपासना कुछ गहरी हो गई थी किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि प्रसादजी का प्रकृति प्रेम कहाँ तक स्वयं उसके लिये नहीं है। परमात्मा की चेतनता से व्याप्त होने के कारण जिस प्रकार मानव प्रेम का महत्व नहीं घटता उसी प्रकार प्रकृति का भी नहीं।

प्रकृति को आवलम्बन रूप से देखने के लिए शान्त हृदय चाहिए। आजकल की सभ्यता में हम प्रतिद्वन्द्विता और रोटी के राग में इतने फँसे रहते हैं कि हमको प्राकृतिक सौन्दर्य के निरीक्षण का अवकाश ही नहीं मिलता सौन्दर्यानुभूति के लिए भावुक हृदय चाहिए; उसके बिना न मानव-

सौन्दर्य है और न प्राकृतिक। वास्तव में प्रकृति और पुरुष दृश्य और द्रष्टा तथा सौन्दर्य और उसके अनुभवकर्ता में एक प्रकार का आदान-प्रदान रहता है। सुन्दर वस्तु में भी हृदय की जड़ता को दूर करने की शक्ति रहती है और जैसे-जैसे हृदय की जड़ता दूर होती जाती है वैसे ही सौन्दर्यानुभूति बढ़ती है। यह दोनों अन्योन्याश्रित हैं। प्रसादजी ने इस बात को पूर्ण रूपेण हृदयंगम किया है। प्रकृति के हृदय को विकसित करने की स्वाभाविक शक्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं।

नील नीरद देखकर आकाश में।
क्यों खड़ा चातक रहा किस आश में ?
क्यों चकोरों को हुआ उल्लास है ?
क्या कलानिधि का अपूर्व विकास है ?

  

देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ।
प्राण भी आमोद से प्रमुदित हुआ।
रस हुआ रसना में उसको बोलकर।
स्पर्श करता सुख हृदय को खोलकर।

जब चातक श्याम घन को देखकर तथा चकोर कलानिधि राकेश को देखकर उल्लसित हो उठता है तब मनुष्य ही सौन्दर्योपासना से क्यों वंचित रहे। प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन मात्र ही रसना को रसमय बना देता है और हृदय को विकसित करता है।

यह प्रकृति की शक्ति है। किन्तु उसके रस का पूरा आनन्द लेने के लिए हृदय में भी भावुकता चाहिए जहाँ प्रकृति हृदय को उल्लसित कर सकती है वहाँ हृदय की ग्राहकता उसको अनुपम छटा प्रदान करती है।

बना लो अपना हृदय प्रशान्त,
तनिक तब देखो वह सौन्दर्य।
चन्द्रिका सा उज्ज्वल आलोक,
मल्लिका सा मोहन मृदु हास॥

वास्तव में जब तक अनुकूल हृदय पास न हो तब तक सौन्दर्य को स्थान कहाँ मिलेगा। यदि हृदय में स्वार्थ भरा है और उसके कारण वह संकुचित बन गया हो तो उसमें सौन्दर्यानुभूति नहीं हो सकती। प्रकृति में सौन्दर्य की कमी नहीं, कमी हमारी ग्राहकता की है।

नील नभ में शोभित विस्तार।
प्रकृति है सुन्दर परम उदार।
नर हृदय परिमित, पूरित स्वार्थ।
बात जंचती कुछ नहीं यथार्थ।

प्रसादजी सकल प्राकृतिक सौन्दर्य को परमात्मा के सौन्दर्य को ही प्रकाश मानते हैं।

लोग प्रिय-दर्शन बताते इन्दु को।
देखकर सौन्दर्य के एक बिन्दु को।
किन्तु प्रिय दर्शन स्वयं सौन्दर्य है।
सब जगह इसकी प्रभा ही वर्य है।

और देखिए :—

तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना।
वो देख सकता है चन्द्रिका को।
तुम्हारे हंसने की धुनि में नदियां।
निनाद करती ही जारही हैं॥

उपनिषदों में कहा है कि उसके प्रकाशित होने पर सब प्रकाशित होते हैं, उसके ही प्रकाश से सब आलोकमय हैं। 'तमेवभांन्तिमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। प्रसाद जी की प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना का भी यही आधार है। वे प्रकृति में परमात्मा के दर्शन करते हैं। कभी तो उसे वे लीलामय की क्रीड़ा के रूप में देखते हैं और कभी परमात्मा के रहस्य को दुर्भेद्य रखने के लिए अवगुण्ठन रूप मानते हैं।

वृत्त आकृत कुंकुमारुण कंज-कानन मित्र है।
पूर्व में प्रकटित हुआ यह चरित जिसका चित्र है॥

कल्पना कहती है, कन्दुक है महाशिशु खेल का।
जिसका है खिलवाड़ इस संसार में सब मेल का॥

❀ ❀ ❀ ❀

वनके दत्तिण-पौन तुम कलियों से भी हो खेलते।
अलि बने मकरन्द की मीठी झड़ी हो झेलते॥

❀ ❀ ❀ ❀

देके उषा-पट प्रकृति को हो बनाते सहचरी।
भालके कुंकुम-अरुण की देदिया बिन्दी खरी॥

प्रकृति, रमणी के अवगुण्ठन की भाँति अपने भीतर रहने वाले सौन्दर्य के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा का भाव उत्पन्न कर देती है। प्रकृति के प्रति यह जिज्ञासा भाव एक प्रकार रहस्य-भावना को जन्म देती है। कामायनी में इस प्रकार के और भी कई स्थल हैं।

महानील इस परम व्योम में
अन्तरित्त में ज्योतिर्मयि,
ग्रह नत्तत्र और विद्युत्कण
किसका करते हैं संधान,
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ!
सदा मौन हो प्रवचन करते,
जिसका वह अस्तित्व कहाँ!

❀ ❀ ❀ ❀

सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ,
बनकर रहस्य, हैं नाच रहीं।
मेरी आँखों को रोक वहीं,
आगे बढ़ने से जांच रही।
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी,
वह क्या सब छाया उलझन है!

सुन्दरता के इस परदे में,
क्या अन्य धरा कोई धन है ?

प्रसादजी की दृष्टि में प्रकृति का महत्व केवल परमात्मा की संदेश-वाहिका होने मात्र का नहीं है। वह स्वतन्त्र रूप से भी उनके आकर्षण का विषय है। प्रकृति को भावना का विषय बनाने में प्रायः उनका मानवीकरण भी हो जाता है क्योंकि जहां चेष्टाओं का वर्णन होता है वहीं उसमें मानवी भावों का आरोप होने लगता है। प्रसादजी ने प्रकृति को सौम्यरूप में भी देखा है और उसके विकराल रूप में भी। प्रकृति के एक मनोहर रूप का वर्णन लीजिए :—

रम्य-कानन की छटा तट पर अनोखी देखलो।
शान्त है, कुछ भय नहीं है, कुछ समयतक मत टलो॥
अन्धकार घना भरा है लता और निकुञ्ज में।
चन्द्रिका उज्ज्वल बनाती है उन्हें सुख पुञ्ज में॥

   

पवन-ताड़ित नीर के तरलित तरंगों में हिले।
पंज, सौरभ-मंजु युत ये कंज कैसे हैं खिले॥
या प्रशान्त विहायसी में शोभते हैं प्रात के।
तारका-युग शुभ्र है आलोक पूरण गात के॥
नीले नीरज इन्दु के आलोक में भी खिल रहे।
विना स्वाति-बिन्दु विद्रुम सीप में मोती रहे॥

प्रकृति के विशालतम सौन्दर्य का यदि वर्ण देखना हो तो कामायनी के रहस्य सर्ग में हिमालय का वर्णन देखिए:—

नीले जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुरधनु माला पहने
कुंजर कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने

प्रवहमान थे निम्न देश में
शीतल शत शत निर्झर ऐसे
महाश्वेत गजराज गण्ड से
बिखरी मधुधारा से जैसे।

एक विकराल रूप का भी चित्रण देखिए—

पंच भूत का भैरव मिश्रण
शंकाओं के शकल-निपात,
उलका लेकर अमर शक्तियाँ
खोज रही ज्यों खोया प्रात
उधर गरजती सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आरही फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी
धंसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वाला मुखियों के निश्वास:
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास

ऐसे वर्णनों में प्रकृति की मुख्यता रहती है। उसके सामने मानव भयाकुल तुच्छ जीव सा रहता है किन्तु जहाँ प्रकृति का मानव के सम्बन्ध में वर्णन होता है वहाँ वह गौण हो जाती है। मानव सम्बन्ध में प्रकृति का तीन प्रकार से वर्णन हो सकता है (१) केवल उद्दीपन रूप से (२) मानव सुख दुख में संवेदना प्रकट करने वाली सहचरी के रूप में (३) मानव क्रिया-कलाप के अनुकूल पृष्ठ भूमि के रूप में।

प्रकृति के उद्दीपन रूप के वर्णनों की हिन्दी-साहित्य में कमी नहीं है। यहाँ पर कामायनी से एक उदाहरण दिया जाता है। देखिए:—

सृष्टि हँसने लगी, आँखों में खिला अनुराग;
राग रंजित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन पराग।

और हँसता था, अतिथि मनु का पकड़कर हाथ।
चले दोनों, स्वप्न पथ में स्नेह संबल साथ।
देवदारु निकुञ्ज गह्वर सब सुधा में स्नात,
सब मनाते एक उत्सव जागरण की रात।
आरही थी मदिर भीनी माधवी की गन्ध,
पवन के घन गिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध
शिथिल अलसाई पड़ी छाया निशा की कांत।
सोरही थी शिशिर कण की सेज पर विश्रान्त।
उसी झुरमुट में हृदय की भावना थी भ्रान्त।
जहाँ छाया सृजन करती थी कुतूहल कान्त।

इसमें उद्दीपन भाव तो है ही उसी के साथ मनु और श्रद्धा की मान‍ दशा की सानुकूलता भी है। शिथिल अलसाई पड़ी छाया में प्रकृति मानवीकरण भी है। ऐसे वर्णनों में प्रकृति सहानुभूति व्यञ्जित अवश्य र है। प्रसादजी ने स्थान-स्थान पर प्रकृति को मनुष्य के साथ-साथ रोती हँसती भी दिखाया है। किन्तु जायसी की भाँति नहीं। जायसी ने प्रकृति सहानुभूति को पराकाष्ठा तक पहुँचा कर कुछ अस्वाभाविकता उत्पन्न करदी

प्रसादजी ने प्राकृतिक वातावरण को मनुष्य के भावानुकूल किया ऐसी भावानुकूल पृष्ठ-भूमि चित्र की अधिक सुन्दरता प्रदान करती है। इ सर्ग में ही देखिए:—

दूर-दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान।
नीरवता सी शिला चरण से,
टकराता फिरता पवमान।
तरुण तपस्वी-सा वह बैठा,
साधन करता सुर-श्मशान;
नीचे प्रलय सिन्धु लहरों का,
होता था सकरुण अवसान।

उसी तपस्वी से लम्बे थे,
देवदारु दो चार खड़े;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर,
बन कर ठिठुरे रहे अड़े।

आशा सर्ग के आरम्भ में ही प्रकृति आशामय रूप धारण कर लेती है और भावी घटना की सूचना सी देने लगती है। श्रद्धा के मिलने के लिए मन को विकास देने वाला वातावरण तैयार हो जाता है।

प्रकृति का मङ्गलमय रूप देखिए—

उषा सुनहले तीर बरसती।
जय-लक्ष्मी सी उदित हुई;
उधर पराजित काल रात्रि सी,
जल में अन्तर्निहित हुई।

* * *

नव कोमल आलोक बिखरता,
हिम संसृति पर भर अनुराग;
सित-सरोज पर क्रीड़ा करता,
जैसे मधुमय पिंग पराग;
धीरे-धीरे हिम—आच्छादित,
हटने लगा धरातल से;
जगी वनस्पतियाँ अलसाईं,
मुख धोती शीतल जल से।

* * *

सिन्धु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में,
मान किये सी ऐंठी सी।

इस वर्णन की शब्दावली में मङ्गलमय प्रेम और शृंगार के भाव मकरन्द-

की भाँति झरते से दिखाई पड़ते हैं। उषा की सुनहली किरणें समृद्धि की वर्षा सी करती हैं। जय-लक्ष्मी शब्द में विजयोल्लास ही नहीं वरन् उसके साथ आने वाली सुख-सम्पत्ति की भी सूचना है। आलोक भी प्रेम प्रकट करता हुआ हिम को हेम बना देता है और श्वेत सरोजों में मधुमय पीला पराग भर देती है। वनस्पतियों का जगना बड़ा सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग है। इसमें भाग्य ने जागरण की व्यंजना है। इसी के साथ वर्षा के पश्चात् पानी के कुछ कम होने पर पानी पर झुकती हुई वनस्पतियों की मुंह धोने की प्रातः क्रिया का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित हो जाता है। इसमें थोड़ा मानवीकरण भी है

'सिन्ध सेज पर धरा वधू को' सुलाकर विशालता में सौन्दर्य भावना उत्पन्न की गई है। वधू शब्द में भी एक भावी वधू के आने की और पीछे से उसके मान की सूचना मिल जाती है। इसी के साथ मानवती बनाकर उसकी शोभा को भी बढ़ा दिया है। संकुचित और ऐंठी में अभिधा और लक्षणा का बड़ा सुन्दर सहयोग है जल से डूबी हुई जो वस्तुएँ निकलती हैं वे कुछ दबी सी और ऐंठी होती हैं पृथ्वी के पक्ष में अभिधार्थ है और वधू के पक्ष में लाक्षणिक अर्थ है। इसमें 'सी' उपमा वाचक लग जाने से मानवीकरण होते-होते बच गया है

प्रसादजी में प्रकृति के शुद्ध मानवीकरण की कमी नहीं है। हमको उनके प्राकृतिक चित्रों में मानवी कार्यों का आरोप स्थान-स्थान पर मिलता है। देखिए:—

अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी
* * *
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधुमुकुल नवल रस गागरी।

प्रसादजी की छायावादी प्रवृत्तियाँ उनकी किरण शीर्षक कविता में बड़ी स्पष्ट रूपरेखा में दिखाई पड़ती है। इसमें प्रकृति मानवीकरण के साथ

छायावादी शैली का भी नमूना मिलता है, देखिए:—

घरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व विकल—
वेदना-दूती सी तुम - कौन ?

प्रसादजी ने रूपकों में भी सुन्दर प्राकृतिक दृश्यों का उपयोग किया है। अपने जीवन में मधुऋतु की सृष्टि करते हुए प्रसादजी ऋतुराज का पूरा दृश्य उपस्थित कर देते हैं।

चुम्बन लेकर और जगाकर,
मानस नयन नलिन को।
जवाकुसुम सी उषा खिलेगी,
मेरी लघु प्राची में।
हंसी भरी उस अरुण अधर का,
राग रंगेगा दिन को।
अन्धकार का जलधि लाँघकर,
आवेगीं शिशु किरनें।
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन-कन,
निशि मे मधुर तुहिन को।

प्रकृति के लिए और भी बहुत से सुन्दर रूपक और उपमाएँ मिलती हैं संक्षेप में हम कह सकते हैं कि प्रसादजी ने प्रकृति का आध्यात्मिक आधार मानते हुए उसके द्वारा अपने प्रियतम परमात्माकी सी क्रीड़ा की अभिव्यक्ति कराई है, उसी के साथ-साथ उसका आलम्बन, उद्दीपन और अलंकार विधान में अप्रस्तुत रूप से भी वर्णन किया है।

संश्लेषण (Synthesis) रहता है और विकल्प में विश्लेषण (Analysis) संकल्प का सम्बन्ध काव्य से है और विकल्प का सम्बन्ध विज्ञान वा शास्त्र से है। संकल्प एकता और आनन्द का उपासक है, विकल्प नानात्व और दुःख का। विज्ञान में संकल्पात्मकता है अवश्य, किन्तु उसमें विश्लेषण का प्राधान्य है। विज्ञान के विश्लेषण द्वारा उसमें चारुत्व की कमी हो जाती है। इस सम्बन्ध में प्रसादजी कहते हैं—"विकल्प विचार की परीक्षा करता है। तर्क-वितर्क कर लेने पर भी किसी संकल्पात्मक प्रेरणा के ने ही द्वारा जो सिद्धान्त बनता है, वही शास्त्रीय व्यापार है। अनुभूतियों की परीक्षा करने के कारण और उसके द्वारा विश्लेषणात्मक होते-होते उसमें चारुत्व की, प्रेम की, कमी हो जाती है।" कवि कल्पना-मण्डित सुहाग भरी जुही की कली विश्लेषण करने पर कार्बन और हाइड्रोजन का मिश्रण रह जाती है, अथवा पुष्पों के वर्गीकरण में उसको एक बारह-चौदह अक्षरों वाला लम्बा नाम मिल जाता है।

काव्य में श्रेय और प्रेय का मेल हो जाता है। श्रेय सत्याश्रित है। इस तरह सत्यम् श्रेयस (शिवम्) और प्रेयस सुन्दरम् का समन्वय हो जाता है। शिवम् और सुन्दरम् के लिए भारतीय परिभाषा में श्रेयस और प्रेयस ठीक बैठते हैं। इस परिभाषा में अनुभूति पर ज्यादा जोर दिया गया है, अभिव्यञ्जना पर कम। वास्तव में जहाँ अनुभूति ठीक और निश्चित होती है वहाँ अभिव्यञ्जना भी ठीक उतरती है। सूर और तुलसी की वात्सल्य भावना सम्बन्धी अभिव्यञ्जना में अन्तर है। इसका कारण अनुभूति भेद ही है। सूर बालकृष्ण के उपासक थे और तुलसी धनुर्धारी किशोर राम के।

प्रसादजी काव्य को कला नहीं मानते हैं। भारतीय दृष्टिकोण से काव्य विद्या है और कला उपविद्या है। समस्यापूर्ति कला है क्योंकि उसका छन्द-शास्त्र से सम्बन्ध है, काव्य कला नहीं है। कला का विभाजन जो मूर्त और अमूर्त के आधार पर किया जाता है उससे प्रसादजी सहमत नहीं हैं। भारतीय विचारधारा में मूर्त-अमूर्त का भेद नहीं है। यह भेद ईसाई-संस्कृति से सम्बन्ध रखता है। हमारे यहाँ मूर्त और अमूर्त दोनों ही ब्रह्म के रूप हैं।

वैसे भी सङ्गीत को अमूर्त कहना ठीक नहीं क्योंकि उसका यदि चाक्षुस प्रत्यक्ष नहीं होता तो श्रवणेन्द्रिय सम्बन्धी प्रत्यक्ष होता है। काव्य में भी शब्दों की अमूर्तता आ जाती है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी के साहित्यालोचन में जो कलाओं की श्रेणी बाँधी गयी है वह हेगिल की विचारधारा के अनुकूल है। भारतीय पद्धति में हेगिल की मूर्त आधार वाली कलाओं को शिल्प कहा है, वे तीन हैं--स्थपतिः (Architectur) मूर्ति-कला और चित्र-कला। यह दृष्टिकोण और परिभाषा का भेद है। भारतवर्ष में कलाओं को आश्रित रक्खा है। 'नृत्य-गीत प्रभृतयः कला कामर्थसंश्रयः।' यहाँ पर काम का व्यापक अर्थ इच्छा, जिसका सम्बन्ध भावात्मक जगत से है लेना चाहिए। ये कलाएँ ६४ हैं। इनमें नृत्य गीत वाद्य, तैरना, फूलमाला बनाना इत्यादि बातें आती हैं, जिनके कारण पुरुष विदग्ध (Cultured) कहा जा सकता है। मेरी समझ में भारतवर्ष में जो कलाएँ मानी गयी हैं उनके लिए अँग्रेजी शब्द Accomplishment अधिक उपयुक्त है। प्रसादजी ने शिवसूत्र विमर्शिनी से जो कला की परिभाषा दी है वह हेगिल के विचारों से कुछ मिलता-जुलता है। 'कलयति स्वरूपं आवेशयति, वस्तूनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला' अर्थात् कला वह है जो वस्तुओं में या स्वयं प्रमाता से बाहर हो, आत्मा को परमित रूप में प्रकट करती है।

प्रसादजी कला की इस परिभाषा का यदि कुछ और स्पष्टीकरण कर देते तो हिन्दी भाषा भाषियों का अधिक उपकार होता क्योंकि हम लोगों को प्राचीन शास्त्रों के ज्ञान के अभाव में अँगरेजी ग्रन्थों का आधार लेना पड़ता है और कहीं कहीं वह भारतीय परम्परा के अनुकूल नहीं रहता।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रसादजी यह नहीं मानते कि इसकी उत्पत्ति सेमेटिक अर्थात् मुसलमानी यहूदी प्रभाव से हुई। इस सम्बन्ध में उनका शुक्लजी से मतभेद है। प्रसादजी कहते हैं कि यहूदियों ने प्रभु ईसा मसीह को इसी लिए सूली पर चढ़ाया था कि वे अपने को और अपने पिता को एक मानते थे, 'I and my Father are one' अनलहक कहने वाले मंसूर भी [illegible] हुए। 'हिब्रू' धर्म-भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा,

मन्सूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्म भावना से अधिक परिचित थे। स्वयं सूफी सम्प्रदाय हिन्दुस्तान से प्रभावित है। प्रसादजी कहते हैं 'सूफी सम्प्रदाय मुसलमानी धर्म के भीतर वह विचार-धारा है जो अरब और सिन्ध का परस्पर सम्पर्क होने के बाद से उत्पन्न हुई थी' यह इतिहास का विषय है। इस सम्बन्ध में मैं अधिक नहीं जानता। मुसलमान लोग इसकी उत्पत्ति अरब से ही मानते हैं। किन्तु यह बात तो मानी हुई है कि मुसलमान लोग भारतवर्ष में आठवीं शताब्दी में ही आने-जाने लगे थे। यह एक दूर की सम्भावना हो सकती है कि कबीर आदि सन्तों ने भारतीय एकात्मवाद को उसी तरह अपनाया हो जिस तरह आजकल शोपनहोर या इमर्सन को पढ़ कर लोग वेदान्त को अपनाते हैं। इस तरह से कबीर के रहस्य को मुसलमानी प्रभाव से उत्पन्न कह लें किन्तु एकात्मवाद की भावना मूल में भारतीय है।

प्रसादजी ने यह भी बतलाया है कि शैव आगमों में अद्वैत रहस्य को द्वैत से अभिभूत हो जाने की शंका दिखलायी गयी है। इसमें रहस्य-सम्प्रदाय की प्राचीनता झलकती है। जो लोग रहस्यवाद को नवीन शब्द मानते हैं उनके लिए यह विचारोत्तेजक होगा। "द्वैत दर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्य सम्प्रदायो मा विच्छेदि।" प्रसादजी इस सम्बन्ध में यह भी बतलाते हैं कि प्रेम की उपासना न सूफी सम्प्रदाय से हमको मिली है और न ईसाई धर्म से। वैदिक-काल प्रेम का प्राचीन रूप है। "कामस्तदग्रे सम-वर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" काम प्रेम से अधिक व्यापक है। प्रसादजी का कथन है कि जब से हमने प्रेम को Love या इश्क का पर्याय मान लिया है, तभी से काम शब्द की महत्ता कम हो गयी है।

प्रसादजी रहस्यवाद की भारतीयता प्रमाणित करते हुए आनन्द और अद्वयता उसकी मूल प्रवृत्ति मानते हैं। द्वैतवाद का सम्बन्ध बुद्धिवाद से है। वर्तमान रहस्यवाद को भारतीय परम्परा का उत्तराधिकारी बतलाते हुए प्रसादजी कहते हैं कि इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ,

वैसे भी सङ्गीत को अमूर्त कहना ठीक नहीं क्योंकि उसका यदि चाक्षुस प्रत्यक्ष नहीं होता तो श्रवणेन्द्रिय सम्बन्धी प्रत्यक्ष होता है। काव्य में भी शब्दों की अमूर्तता आ जाती है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी के साहित्यालोचन में जो कलाओं की श्रेणी बाँधी गयी है वह हेगिल की विचारधारा के अनुकूल है। भारतीय पद्धति में हेगिल की मूर्त आधार वाली कलाओं को शिल्प कहा है, वे तीन हैं—स्थपतिः (Architectur) मूर्ति-कला और चित्र-कला। यह दृष्टिकोण और परिभाषा का भेद है। भारतवर्ष में कलाओं को आश्रित रक्खा है। 'नृत्य-गीत प्रभृतयः कला कामर्थसंश्रयः।' यहाँ पर काम का व्यापक अर्थ इच्छा, जिसका सम्बन्ध भावात्मक जगत से है लेना चाहिए। ये कलाएँ ६४ हैं। इनमें नृत्य गीत वाद्य, तैरना, फूलमाला बनाना इत्यादि बातें आती हैं, जिनके कारण पुरुष विदग्ध (Cultured) कहा जा सकता है। मेरी समझ में भारतवर्ष में जो कलाएँ मानी गयी हैं उनके लिए अँग्रेजी शब्द Accomplishment अधिक उपयुक्त है। प्रसादजी ने शिवसूत्र विमर्शिनी से जो कला की परिभाषा दी है वह हेगिल के विचारों से कुछ मिलता-जुलता है। 'कलयति स्वरूपं आवेश्यति, वस्तूनि वा तत्र-तत्र प्रमातरि कलनमेव कला' अर्थात् कला वह है जो वस्तुओं में या स्वयं प्रमाता में स्वरूप को, आत्मा को परमित रूप में प्रकट करती है।

प्रसादजी कला की इस परिभाषा का यदि कुछ और स्पष्टीकरण कर देते तो हिन्दी भाषा भाषियों का अधिक उपकार होता क्योंकि हम लोगों को प्राचीन शास्त्रों के ज्ञान के अभाव में अँगरेजी ग्रन्थों का आधार लेना पड़ता है और कहीं कहीं वह भारतीय परम्परा के अनुकूल नहीं रहता।

रहस्यवाद के सम्बन्ध में प्रसादजी यह नहीं मानते कि इसकी उत्पत्ति सेमेटिक-अर्थात् मुसलमानी यहूदी प्रभाव से हुई। इस सम्बन्ध में उनका शुक्लजी से स्पष्ट मतभेद है। प्रसादजी कहते हैं कि यहूदियों ने प्रभु ईसा मसीह को इसी लिए सूली पर चढ़ाया था कि वे अपने को और अपने पिता को एक मानते थे, 'I and my Father are one' अनलहक़ कहने वाले मंसूर भी उसी पथ के गामी हुए। 'सेमेटिक' धर्म-भावना के विरुद्ध चलने वाले ईसा,

मन्सूर और सरमद आर्य अद्वैत धर्म भावना से अधिक परिचित थे। स्वयं सूफी सम्प्रदाय हिन्दुस्तान से प्रभावित है। प्रसादजी कहते हैं 'सूफी सम्प्रदाय मुसलमानी धर्म के भीतर वह विचार-धारा है जो अरब और सिन्ध का परस्पर सम्पर्क होने के बाद से उत्पन्न हुई थी' यह इतिहास का विषय है। इस सम्बन्ध में मैं अधिक नहीं जानता। मुसलमान लोग इसकी उत्पत्ति अरब से ही मानते हैं। किन्तु यह बात तो मानी हुई है कि मुसलमान लोग भारतवर्ष में आठवीं शताब्दी में ही आने-जाने लगे थे। यह एक दूर की सम्भावना हो सकती है कि कबीर आदि सन्तों ने भारतीय एकात्मवाद को उसी तरह अपनाया हो जिस तरह आजकल शोपनहोर या इमर्सन को पढ़ कर लोग वेदान्त को अपनाते हैं। इस तरह से कबीर के रहस्य को मुसलमानी प्रभाव से उत्पन्न कह लें किन्तु एकात्मवाद की भावना मूल में भारतीय है।

प्रसादजी ने यह भी बतलाया है कि शैव आगमों में अद्वैत रहस्य को द्वैत से अभिभूत हो जाने की शंका दिखलायी गयी है। इसमें रहस्य-सम्प्रदाय की प्राचीनता झलकती है। जो लोग रहस्यवाद को नवीन शब्द मानते हैं उनके लिए यह विचारोत्तेजक होगा। "द्वैत दर्शनाधिवाधितप्राये जीवलोके रहस्य सम्प्रदायो मा विच्छेदि।" प्रसादजी इस सम्बन्ध में यह भी बतलाते हैं कि प्रेम की उपासना न सूफी सम्प्रदाय से हमको मिली है और न ईसाई धर्म से। वैदिक-काल प्रेम का प्राचीन रूप है। "कमस्तदग्रे समवर्तािधमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" काम प्रेम से अधिक व्यापक है। प्रसादजी का कथन है कि जब से हमने प्रेम को Love या इश्क का पर्याय मान लिया है, तभी से काम शब्द की महत्ता कम हो गयी है।

प्रसादजी रहस्यवाद की भारतीयता प्रमाणित करते हुए आनन्द और अद्वयता उसकी मूल प्रवृत्ति मानते हैं। द्वैतवाद का सम्बन्ध बुद्धिवाद से है। वर्तमान रहस्यवाद को भारतीय परम्परा का उत्तराधिकारी बतलाते हुए प्रसादजी कहते हैं कि इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ,

विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन कर इसमें सम्मिलित है। प्रसादजी आनन्दवादी होने के कारण मिलन को अधिक महत्व देते हैं। विरह को बुद्धिवाद का प्रभाव बतलाते हैं। गोपियों के विरह में आनन्दवाद और बुद्धिवाद का समन्वय है। प्रसादजी के आनन्द, समरसता अहं को इदम् से समन्वय जोकि प्राकृतिक सौन्दर्यास्वादन होता है रहस्यवाद के मूल तत्व हैं।

प्रसादजी रहस्यवाद को काव्य की मुख्य धारा मानते हैं। 'काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।'

पुस्तक में रस, नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरम्भ, रङ्गमञ्च, आरम्भिक पाठ्य (श्रव्य) काव्य, यथार्थवाद और छायावाद शीर्षक और भी कई पाण्डित्यपूर्ण लेख हैं। हम उन लेखों में आये हुए सिद्धान्तों का क्रम-बद्ध विवेचन न करके स्फुट-रूप से उनकी बातों का उल्लेख कर रहे हैं—

१—प्रसादजी ने रस सम्प्रदाय को ही सङ्कल्पात्मक अनुभूति के अन्तर्गत रक्खा है। रीति अलङ्कारवादियों को विकल्प और बुद्धिवाद से सम्बन्धित किया है। प्रसादजी ने नाटकों में ही रस का परिपाक अधिक माना है। महाकाव्यों में दुःखवाद और बुद्धिवाद* का अधिक प्रभाव है। रामायण और महाभारत दोनों में दुःखवाद है किन्तु रामायण को उन्होंने आदर्शवादी कहा है और महाभारत को यथार्थवादी; क्योंकि उसमें व्यक्ति-वैचित्र्य के लिए अधिक स्थान दिखाई देता है।

२—नाटकों की उत्पत्ति प्रसादजी ने वेदों से ही मानी है। सोम-विक्रय आदि के अभिनय पहले होते थे, उनमें आनन्दवादी माहेश्वरों के प्रभाव से नृत्त और नृत्य का समावेश हो गया। यूरोप के कुछ विद्वान् सूत्रधार शब्द

---

* प्रसादजी ने आर्यों के विचार की दो धाराएँ मानी हैं। एक आनन्दवादकी और दूसरी तर्कवाद की, जो दुःखवाद की ओर ले जाती है। पिछली शाखा के मानने वाले जैन और बौद्ध थे।

वास्तविक स्थिति क्या है इसको छिपाते हुए भी उसमें आदर्शवाद का सामञ्जस्य स्थिर करता है। दुःखदग्ध जगत और आनन्द पूर्ण स्वर्ग का एकीकरण साहित्य है।"

६—छायावाद के सम्बन्ध में प्रसादजी लिखते हैं—'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया……सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पद-योजना असफल रही उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्यविन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। वक्रोक्तिवाद भी शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता द्वारा शोभा की सृष्टि मानता है। छायावाद में भी वाग्वैचित्र्य की विदग्धता रहती है। प्रसादजी के मत से छायावाद के लिए प्राकृतिक वर्णन आवश्यक नहीं। छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भङ्गिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। शब्द विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तथ्य उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया' इस प्रकार छायावाद में आन्तरिक के अनुकूल व्यञ्जनापूर्ण भाषा लाने का प्रयत्न हुआ। प्रसादजी ने बतलाया है कि प्राचीन ग्रन्थों में छाया जैसे मोती, छाया, सौन्दर्य के अर्थ में प्रयुक्त है यह विलक्षण संयोग है कि जो नाम मजाक उड़ाने के लिए दिया गया उसकी साहित्य में सार्थकता निकल आयी। यही पंडितों का पांडित्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का पूरा-पूरा लाभ उसके अध्ययन से ही मिलेगा। यहाँ प्रसादजी के विचारों का दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है। यह पुस्तक सर्म शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए विशेष उपयोगी है

आँसू की प्रेम-मीमांसा

प्रसादजी का आँसू नाम का छोटा-सा काव्य अपने आकार की लघुता एवं घनीभूत पीड़ा की रसमयी अभिव्यक्ति के कारण भौतिक आँसू का ही प्रतिरूप है। आँसू की भाँति इसके आदि में विषम-वेदनामयी जलन है और अन्त में ममत्व-परत्व के द्वन्द्वों से ऊँचा उठाकर सुख दुःख का मेल करानेवाली उपेक्षापूर्ण मङ्गलमयी शान्ति की रस वृष्टि है।

आँसू विरह प्रधान काव्य है किन्तु इसका विषय वर्तमान विरह नहीं है वरन् इसका सम्बन्ध विगत विरह की मधुस्मृति तथा उसकी ज्वाला को उपशमन करने वाली जीवन-मीमांसा से है। कष्ट की वर्तमान अवस्था में रस नहीं रहता वह लौकिक अनुभव की ही कोटि में आता है। वर्ड्सवर्थ ने कविता को विगत मनोरागों का सावकाश स्मरण कहा है। Poetry is emotion recollected at leasure यह विरह स्मृतिपरक् होने के कारण कम तीव्र नहीं है। क्योंकि अभिलाषाएँ इन स्मृतियों को जागरित कर तीव्रता प्रदान करती रही हैं इस प्रकार इस विरह निवेदन में वास्तविकता और स्मृति दोनों का ही सम्मिश्रण है।

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भींगी पलकों का लगना।

पूर्वानुभूत सुख एवं विरह-जन्य दुःख की स्मृतियाँ मिल कर कवि के मन पर एक गहरा प्रभाव डालतीं हैं और वही घनीभूत पीड़ा अपने श्लिष्ट अर्थ को सार्थक करती हुई (केन्द्रीभूत और मेघस्वरूपा) आँसू के रूप में बरस पड़ती है।

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन में आँसू बन कर
वह आज बरसने आई।

यहाँ तो स्मृति उपमान रूप में ही आई है किन्तु इस काव्य का उदय स्मृतियों से ही हुआ है। ये स्मृतियाँ मिलने और विरह से सम्बन्ध रखती हैं और प्रकाशमयी हैं। ये जलन की भी स्मारक हैं और मिलन की भी।

बस गई एक बस्ती है
स्मृतियों की इसी हृदय में

... ...

इस ज्वालमयी जलन के
कुछ शेष चिन्ह हैं केवल
मेरे उस महा मिलन के।

आँसू में केवल विरह-निवेदन ही नहीं है और न इसका अन्त भौतिक मिलन में है। इसमें एक जीवन-मीमांसा और तत्व-चिन्तन भी है जिसके आलोक में वेदना वैयक्तिक बन्धनों से मुक्त होकर एक दिव्य आभा धारण कर लेती है और कवि सौन्दर्य के एक मानसिक आदर्श में मग्न होकर एक उपेक्षामय शान्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार आँसू के लौकिक और अलौकिक दोनों ही पक्ष हैं।

प्रसादजी ने केवल उस अन्तर्ज्वाला के ही दर्शन नहीं कराये हैं जो विश्व-मंदिर के मणिदीप सदृश तारकों की झिलमिल छाया में भी निरन्तर जलती रहती है वरन् उस रूप-चन्द्रिका की भी ललित-कलित झाँकी दिखलाई है जो कामना द्वारा इस अग्नि को प्रदीप्त रखती है—

सौन्दर्य सुधा बलिहारी,
चुगता चकोर अंगारे।

प्रसादजी ने सौन्दर्य सम्पन्न प्रेम-पात्र के साथ मिलने के उस पीयूष प्रभाव का भी जो जीवन को सरसता प्रदान करता है, दिग्दर्शन कराया है।

ासादजी ने उस सौन्दर्य का वर्णन कुछ-कुछ प्राचीन कवियों के ढङ्ग का या है देखिए:—

चञ्चलता स्नान कर आवे
चन्द्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तन की शोभा
आलोक मधुर थी ऐसी

'स पद्य में हमको तुलसीदासजी के 'जो छवि सुधा पयोनिधि होई। रूप मय कच्छप सोई' से आरम्भ होने वाले रूपकमय सौन्दर्य-वर्णन ीमान कालीन रूप मिलता है। इस सौन्दर्य के वर्णन में प्रसादजी ने ारों का जो प्रयोग किया है वह उनके हृदय की भावना और उमङ्ग का है। देखिए—

लावण्य-शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी-प्यारी

लावण्य-शैल को राई बना कर एक विरोध का ही चमत्कार नहीं उत्पन्न है वरन् उसको सार्थक भी बना दिया है। नजर से बचाने के लिए राई उतारा जाता है। प्रसादजी ने अपने प्रेम-पात्र के वर्णन में जिन ारों का प्रयोग किया है वे बड़े ही सार्थक हैं।

प्रसादजी ने कहीं-कहीं किसी अङ्ग के वर्णन में रीति-कालीन कवियों का रण किया है। साथ ही परम्परा युक्त उपमानों की अनुपयुक्तता दिखला क प्रकार का आश्चर्य और चमत्कार भी उत्पन्न कर दिया है। देखिए—

विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे?
है हंस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे?

हमारा उद्देश्य प्रसादजी के अलङ्कार विधान पर प्रकाश डालना नहीं

है। वरन् यह कि ऐसे वर्णनों को देखकर प्रश्न होता है कि प्रसादजी के आँसू का आलम्बन कोई हाड़ मांस चाम का लौकिक व्यक्ति है अथवा यह लौकिक व्यक्ति केवल आलङ्कारिक है और इसके द्वारा अलौकिक प्रेम-पात्र की ओर संकेत किया गया है। ऐसे वर्णन तथा कुछ और वर्णनों को (जैसे—बाँधा था विधु को किसने इन काली जञ्जीरों से) देखते हुए यह कहना कठिन है कि आँसू का आलम्बन भौतिक नहीं है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे अलौकिक की ओर संकेत हैं। देखिए—

छायानट छवि परदे में
सम्मोहन वेणु बजाता
संध्या कुहुकिनि अञ्चल में
कौतुक अपना कर जाता
... ...
अपनी आंखों का तारा।

कुछ लोगों ने जैसे डाक्टर रामकुमार वर्मा ने आँसू का आलम्बन सत्य माना है और प्रोफेसर नगेन्द्र ने कवि की वासना का प्रतीक रूप किन्तु आँसू के पढ़ने से मालूम होता है कि इसका आलम्बन तो वास्तविक व्यक्ति ही था फिर विफल विरह वेदना के कारण उसका निराकरण होकर वह सौन्दर्य का आदर्शमात्र रह गया और विरह भी ममता-शून्य होकर मङ्गलमय हो जाता है। नीचे की पंक्तियों में व्यक्तित्व की ओर स्पष्ट संकेत है। देखिए—

प्रतिमा में सजीवता सी
बस गई सुछवि आंखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों में।

सांसारिक प्रेम यदि खिलवाड़ नहीं है तो उससे व्यक्ति का ही मान होता है। विरह भी व्यक्ति का ही होता है। विरह ही निर्व्यक्तीकरण की ओर ले जाता है। उद्धव ने गोपियों को ब्रह्म में मन लगाने का उपदेश देकर उनके आलम्बन का निर्व्यक्तीकरण करना चाहता था लेकिन वह नहीं हो

सका। प्रसादजी का निर्व्यक्तीकरण आत्म-चिन्तन का फल है। वैसे भी स्त्री और पुरुषों की भावना की मात्रा में अन्तर रहता है।

आँसू में हम भावना और चिन्तन का एक सुखद सम्मिश्रण पाते हैं। भावना चिन्तन के अधीन हो अपनी पूर्ति करती दिखाई देती है। आँसू में प्रसादजी के तीन व्यक्तित्व प्रेमी, कवि और दार्शनिक मिले हुए हैं। उनका कवित्व, प्रेमी के विरह को बल देता है फिर जब वह विरह चारों ओर भटका लेता है तब उनका कवि दार्शनिक और प्रेमी का मेल कराकर उसे विश्व-मण्डल की ओर ले जाता है।

प्रसादजी की प्रेम-पद्धति की पृष्ठ-भूमि में सर्वेश्वरवाद है। वे अपने लौकिक प्रियतम में भी ईश्वर की ही विभूति देखते हैं—

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिंचन,
देखे जो स्वप्न सवेरे।

व्यक्ति और कवि के सहयोग की बात का आभास हमको नीचे की पंक्तियों से मिलता है—

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।

कवि ने मिलन के आनन्द को भी द्विगुणित कर दिया और विरह पर भी शान चढ़ा दी थी।

प्रसाद व्यक्ति का प्रियतम चला जाता है। उसके आने और चले जाने दोनों के प्रभाव को कवि एक छन्द में कह देता है। उसने जो उपमान चुने हैं वे आश्रय और आलम्बन दोनों से ही सम्बन्ध रखते हैं। 'मादकता से आये तुम संज्ञा से चले गये'। प्रियतम स्वयं मदभरा था और आश्रय पर उसका प्रभाव भी मादकता का सा था। वे और उनके जाने से आश्रय

प्रसादजी स्वीकार करते हैं। वह जीवन को गति देने के लिए आवश्यक है। प्रसादजी का उपचार इतने से ही शेष नहीं हो जाता है। इसके साथ एक जीवन मीमांसा का भी अनुपान है जो विस्मृति की औषधि से कहीं अधिक महत्व रखता है और वह सर्वथा भारतीय संस्कृति के अनुकूल भी है। इस मीमांसा के दो अंग हैं एक प्रेम पात्र का निर्व्यक्तीकरण (जिसका उपदेश उद्धव ने गोपियों को दिया था) और ममत्व का त्याग इस मीमांसा प्रसाद का दार्शनिक व्यक्ति का सहायक होता है। जैसा ऊपर कहा गया है प्रसादजी के प्रेम का आधार सर्वेश्वरवाद है। वे निराशा की ध्वंस चिता से अपने में सोई हुई विश्वात्मा को जगाते हैं और फिर जीवन में रस लेकर विश्वमङ्गल की कामना करते हैं। देखिए—

जिसके आगे पुलकित हो जीवन है सिसकी भरता।
हाँ मृत्यु नृत्य करती है मुस्क्याती खड़ी अमरता॥
वह मेरे प्रेम विहँसते जागे मेरे मधुवन में।
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में॥

अपनी सौन्दर्य पिपासा की तृप्ति के लिए कवि एक काल्पनिक आदर्श उपस्थित कर लेता है उसी की मानसिक पूजा में वह मग्न हो जाना चाहता है।

जिसमें इतराई फिरती
नारी–निसर्ग–सुन्दरता
छलकी पड़ती हो जिसमें
शिशु की उर्मिल निर्मलता

शिशु की निर्मलता को मिला कर सौन्दर्योपासना को सात्विक बना दिया है। उसी को वे अपनी मानस पूजा का प्रतीक बनाना चाहते हैं। देखिए:—

मेरी मानस पूजा का
पावन प्रतीक अविचल हो

इस मीमांसा का दूसरा अंग है ममत्व के त्याग द्वारा सुख दुःख का मेल।

यह अहंकार ही तो दुःख का कारण है इसके त्याग से दुःख दुःख नहीं रहता। कवि जीवन में दुःख-सुख को मिला हुआ मानता है। तुलसीदासजी ने भी इस संसार में पाप-पुण्य दिन-राती का सम्मिश्रण माना है। कवि मन में सुख-दुःख का मिले हुए प्रेम के साथ मन-मंदिर मे सोते हुए देखता है:—

लिपटे सोते थे मन में
सुख दुःख दोनों ही ऐसे
चन्द्रिका अंधेरी मिलती
मालती कुञ्ज में जैसे

किन्तु बाह्य जगत में दुःख और सुख का कुछ संघर्ष दिखाई देता है। दुख पृथ्वी के ही बाँट पड़ा है। कवि दुःख को संसार में व्याप्त देखता है और पृथ्वी में दुःख का आरोप भी करता है। सागर का खारी पानी उसके आँसुओं का ही पुञ्जीभूत रूप है।

नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन सी करती
अपने खारे आंसू से
करुणा सागर को भरती

दुःख और सुख के सम्बन्ध में अभिलाषाओं और वास्तविकता में अन्तर दिखाई पड़ता है। धरणी दुःख माँग रही है, आकाश छीनता सुख को। जब अकाश सुख को छीन लेता है तब दुख के अपनाने के सिवाय रह ही क्या जाता है? सुख के लिए भी कवि दुःख को आवश्यक समझता है। एक दुःख दूसरे के सुख का कारण बन जाता है।

उनका सुख नाच उठा है
यह दुख-द्रुम-दल हिलने से
शृंगार चमकता उनका
मेरी करुणा मिलने से

दुख आवश्यक है। सौन्दर्य के लिए भी करुणा की अपेक्षा है। दुःख की तीव्रता और कटुता ममता के ही कारण है जब कवि यह गाता है कि

घर-घर में दिवाली मेरे घर में अँधेरा तब इस विवेचना के कारण उसका अहंभाव ही होता। यदि यह अहंभाव मिट जाय तब दुख की तीव्रता और कटुता जाती रहती है।

हो उदासीन दोनों से
दुःख सुख से मेल करायें
ममता की हानि उठा कर
दो रूठे हुए मनायें

आँसू का आरम्भ वेदना से होता और अन्त अश्रुहास मिली हुई जीवन को हरियाली देनेवाली वर्षा से होता है। इसके काव्य के आदि में प्रेम का लौकिक पक्ष है और अन्त में उसके अलौकिक रूप की झाँकी मिलती है लेकिन उसको वहाँ तक पहुँचने में निराशा और वेदना का पथ पार करना पड़ता है। लौकिक प्रेम का अनुभव अलौकिक प्रेम को मानवता प्रदान करता है। कवि अपने अहंकार की हानि कर उस रसभूमी सृष्टि में पहुँच जाता है जहाँ आनन्द ही आनन्द है। इसी अवस्था की कल्पना करता हुआ आशा करता है:—

हे जन्म-जन्म के जीवन
साथी संसृति के दुख में
पावन प्रभात हो जावे
जागो आलस के सुख में
जगती का कलुष अपावन
तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता
यह पाप-पुण्य हो जावे।

———

साहित्य प्रेस, सिविल लाइन्स, आगरा।